

दस्तक

(सज्जत संकलन)

संकलन

पवन कुमर



प्रकाशन संस्थान

नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
पुस्तक प्रतिष्ठान
4268-B/3, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110 002

मूल्य : 200.00 रुपये
प्रथम संस्करण : सन् 2014
ISBN : 978-93-
आवरण : डॉ. लाल रत्नाकर

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032
मुद्रक : बी. के. ऑफसेट, दिल्ली-110032

समर्पण

परम श्रद्धेय, प्रेरणास्रोत
स्व. डॉ. हरीकृष्ण जी
को स्मृति स्वरूप
समर्पित!

पेश-लफ़ज

*वो तेग़ मिल गयी जिससे हुआ है क़त्ल मेरा
किसी के हाथ का उस पर निशां नहीं मिलता
वो मेरा गाँव है वो मेरे गाँव के चूल्हे
कि जिनमें शोले तो शोले धुआँ नहीं मिलता।*

1974 के आस पास कैफ़ी आजमी जब ये बात कह रहे थे तो शायद ही उन्हें यह अन्दाज़ा रहा होगा कि ऐसे समय में जबकि उनकी शायरी फल फूल रही है अवाम को आन्दोलित कर रही है, उसी दौरान एक नयी पीढ़ी भी आस्मां से ज़मीं पर उतर रही है। यह वह पीढ़ी थी जो 70 के दशक में अपनी आँखे खोल रही थी, जिसने 80 का दशक आते आते अपनी चेतना को जगाया और 90 के दशक में अदब की महफ़िलों में अपनी हाज़िरी जताने लगी। 90 का दशक दुनिया भर में बदलाव लाने वाला था। दुनिया बदल रही थी। दुनिया एक 'ग्लोबल विलेज' में तब्दील हो रही थी। सरहदें ख़त्म हो रही थीं। आर्थिक उदारवाद और इंसानी रिश्तों की नयी हकीकतें सामने आ रही थीं। समाज बदल रहा था। तहज़ीब और तरक्की का नया दौर सामने आ रहा था, विज्ञान एवं तकनीकें समाज का हिस्सा बन रही थीं। हिन्दुस्तान भी इसी बदलाव की हवा में बहा। फिजिक्स और मेटा फिजिक्स के दरमियां नयी राहें तलाशता यह मुल्क नयी इबारतें रचने के लिये आकुल-व्याकुल था। कम्प्यूटर क्रांति आ चुकी थी। अहसासों का इन्सानी तक्क़ज़ा कुछ ढीला पड़ रहा था, क्रांतिकारी-मज़दूर आन्दोलन ख़त्म होने की ओर था। एक जटिल सामाजिक संरचना का ताना-बाना बुना जा रहा था। घर, मकानों में तब्दील

हो रहे थे। इस पीढ़ी के खेलने-खाने का दौर इन्हीं बदलावों के दसियों बीता। जब इस पीढ़ी ने अपने ज़ेहन के दरवाज़े खोले तो हिन्दुस्तान 'बाज़ार' की शक्ति इख्तियार कर रहा था। उदारीकरण की बयार पूरे ज़ोरों पर थी। आदमी 'यूनिट' और 'कमोडिटी' में अपनी शिनाख्त पुख्ता करने की मानसिकता में ढल चुका था। मुल्क-ग़ैर मुल्क जैसी बातें अब लगभग बीती बातें हो चुकी थीं। ख़तों-कबूतरों के ज़माने लद रहे थे, सम्पर्क के लिये टेलीफ़ोन-मोबाइलों का जाल फैल रहा था। ऐसे में इस पीढ़ी ने खुद को ढाला। इन हालात का असर शाइरी पर पड़ना ही था। पुरानी पीढ़ी के शाइर रियायती तौर पर अभी भी ख़त, कबूतर, शराब, शबाब जैसे ख़्यालों का दोहराव और अल्फ़ाजों की जुगाली कर रहे थे मगर यह नयी पीढ़ी थी जिसने अपने वक्त्र के तमाम ख़्यालों, विचारों, तब्दीलियों को अपनी शहरों में शामिल करने में गुरेज़ नहीं किया। यह वह वक्त्र था जब रियायती शायरी और जदीद शाइरी एक साथ चल रही थीं।

ग़ज़लों में भाषाई और ख़्यालों के मुसलसल नस्ल दर नस्ल बदलाव पर अगर बात करनी है तो ज़रा और पीछे चलना होगा ताकि इस मौजू पर कायदे से रौशनी डाली जा सके। उन्नीसवीं सदी का आख़िरी और बीसवीं सदी का शुरूआती ज़माना ग़ज़ल के बजाय नज़्म का ज़माना था। उस अहद में हाली और मो. हुसैन आज़ाद वग़ैरह ने ग़ज़ल के मुक़ाबिल नज़्म को ज़्यादा तरजीह दी। बीसवीं सदी की शुरूआत में नज़्म अस्नाफे शेर के उफ़्क़ पर ज़्यादा नमूदार रही फिर भी ग़ज़ल की तख़लीक़ का अमल जारी रहा। ग़ज़ल की पहचान के अस्ल अनासिर की बहाली के लिये उस ज़माने के कुछ शाइरों ने शऊरी कोशिश की जिनमें सफ़ी, अज़ीज़, आरजू, साक्रिब, महशर वग़ैरह के नाम अहम हैं। इनके अलावा ग़ज़ल को नये रंग में ढालने की कोशिश सीमाब, असगर, जिगर और हसरत वग़ैरह ने भी की थी। उस ज़माने में मीर और ग़ालिब की तक्लीद व पैरवी का रूझान भी आम हो रहा था। यगाना, असगर और हसरत इसी दौर के शाइर थे। इस दौर के चंद शेर मुलाहिज़ा हो—

शेर में रंगीनी ए जोश ए तख़य्युल चाहिये,

मुझको अस्गर कम है आदत नाल ओ फ़रियाद की। (अस्गर)

अब अपने ख़त्म-ए-सफ़र में कुछ ऐसी देर नहीं,
जो देर है तो फ़क़त थक के बैठ जाने की।

(यगाना)

मैं हूँ मजबूर तो मजबूर की पुरसिश क्या है,
वो मसीहा हैं तो बीमार को अच्छा न करें।

(हसरत)

इसके बाद इक़बाल आए जिन्होंने नज़्म को अपने शेअरी इज़हार का वसीला बनाने के बावजूद ग़ज़ल की तरफ़ भी तवज्जो की। उनका अहम कारनामा ये है कि उन्होंने इक़हरी और यक सतही शाइरी के बजाये अलामती इज़हार को अहम जाना। इक़बाल के अहद-ए-शाइरी में भी ग़ज़ल के मिज़ाज व मेलान में कोई ऐसी तब्दीली नहीं हुयी जिसे पुरानी ग़ज़ल के मुक़ाबिल तब्दीली कहा जा सके। हां शाहीन जैसे प्रतीक और “शिकवा” एवं “जवाबे शिकवा” के लहजे और अन्दाज़ ने ग़ज़ल के फ़लक को एक नई दिशा और वुसअत ज़रूर अता की। तरक्की पसन्द शाइरों में यूँ तो साहिर, मजाज़, जज़्बी, फ़ैज़ और मजरूह के नाम लिये जाते हैं। लेकिन उनमें फ़ैज़ और मजरूह को एक ख़ासियत हासिल है कि ग़ज़ल उनके यहाँ शेअरी इज़हार की नुमाइन्दा सिन्फ़ है।

फ़ैज़ और मजरूह दोनों शायर मुसल्लमात-ए-शायरी को अच्छी तरह समझते हैं और ग़ज़ल के रवायती मिज़ाज को ज़माना-ए-हाल से हमआहंग करने का हुनर जानते हैं। अब मजरूह के ये अशआर मुलाहिज़ा कीजिये-

वो तो कहीं है और मगर दिल के आस पास,
फिरती है कोई शै निगहे यार की तरह।

(मजरूह)

बड़ा है दर्द का रिश्ता ये दिल ग़रीब सही,
तुम्हारे नाम पे आयेंगे गुमगुसार चले।

(फ़ैज़)

इस शाइरी और इसके बाद की शाइरी की भाषा और फ़िक्र-ए-इमरोज़, फ़िक्र-ए-फ़र्दा पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले परिवर्तनों तथा प्रथम विश्व युद्ध और राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले परिवर्तनों तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रभाव साफ़ साफ़ देखा जा सकता है।

जिस ज़माने में तरक्की पसन्द शायरी परवान चढ़ रही थी, तक़रीबन उसी ज़माने में फ़िराक़ को उर्दू शायरी की एक नयी आवाज़ से ताबीर किया जा रहा था। उसी ज़माने में जोश अपनी बलंद आहंग शाइरी का जादू जगा रहे थे। फ़िराक़ ने अपनी गज़ल में नर्म और धीमा लहजा अख़्तियार किया। उनकी शायरी को इश्क़िया ज़िन्दगी की नयी क़दों से ताबीर किया गया।

तेरा विसाल बड़ी चीज़ है मगर ऐ दोस्त,
विसाल को मेरी दुनिया-ए-आरजू न बना।
किसी का यूं तो हुआ कौन उम्र भर फिर भी,
ये हुस्न-ओ-इश्क़ तो धोका है सब मगर फिर भी।
बहुत दिनों में मुहब्बत को ये हुआ मालूम,
जो तेरे हिज़्र में गुज़री वो रात रात हुयी।

इसके बाद ख़लीलुर्रहमान आज़मी, इब्न-ए-इन्शा, नासिर काज़मी और अहमद मुश्ताक़ वगैरह के यहां यही लहजा नयी गज़ल की शिनाख़्त बना। इन शो'अरा के चन्द अश'आर मुलाहिज़ा हों—

जी बहलता ही नहीं अब कोई साअत कोई पल,
रात ढलती ही नहीं चार पहर से पहले।
गर्म आंसू और ठण्डी आहें मन में क्या क्या मौसम हैं,
इस बगिया के भेद न खोलो सैर करो ख़ामोश रहो।

(इब्ने इन्शा)

तेरे विसाल की उमीद अशक़ बन के बह गयी,
खुशी का चांद शाम ही से झिलमिला के रह गया।

(नासिर)

नयी ग़ज़ल में एक अहम नाम मुनीर नियाज़ी का भी है जिन्होंने ग़ज़ल को एक नयी मानवी जिहत अता की। इनके ये अशआर मुलाहिज़ा हों-

तन्हा उजाड़ बुर्जों में फिरता है तू मुनीर,
वो ज़र फ़सानियां तेरे रूख़ की किधर गर्गीं।

(मुनीर नियाज़ी)

शहर सारा सो रहा है नींद की गर्मी में गुम,
बन्द दरवाज़े हवा के खोलता फिरता हूं मैं।
दिन हुआ कट कर गिरा मैं रौशनी की धार से,
ख़ल्क़ ने देखे लहू में रात के अनवार से।

(ज़फ़र इक़बाल)

ज़फ़र इक़बाल की बेयक़ीनी और मायूसी भरी शाइरी को नई सूरतों और कैफ़ियात से शहरयार ने बदला-

दुनिया ने हर मुहाज़ प मुझको शिकस्त दी,
ये कम नहीं कि ख़ाब का परचम निगूं न था।
अक्स को कैद कि परछाईं को जंजीर करें,
साअते हिज़्र तुझे कैसे जहांगीर करें।

(शहरयार)

इस दौर में कुछ शाइरों ने लफ़ज़ की अलामती कुव्वत को समझने के साथ साथ उसकी तस्वीरी सिफ़त को भी समझा। ऐसे शाइरो में ज़ेब गौरी का नाम सर-ए-फ़ेहरिस्त है।

इक पीली चमकीली चिड़िया काली आँख नशीली सी,
बैठी है दरिया के किनारे मेरी तरह अकेली सी।
कम रौशन इक ख़ाब आईना इक पीला मुरझाया फूल,
पसमंज़र के सन्नाटे में एक नदी पथरीली सी।

(ज़ेब गौरी)

जदीद शाइरी का ज़िक्र शिकेब जलाली के बगैर अधूरा है जो तड़प,

जो ताबिन्दगी और सिम्बल्स की शक्ति उनके अशआर में है वो और कहीं नहीं मिलती- वह समय जदीदियत की बात भी करने वालों के लिये गर्राँ था।

मिरी गिरफ्त में आकर निकल गयी तितली
परों के रंग मगर रह गये हैं चुटकी में

अजब नहीं कि उगें याँ दरख्त पानी के
कि अश्क बोये हैं शब भर किसी ने धरती में

वहाँ की रौशनियों ने भी जुल्म ढाए बहुत
मैं उस गली में अकेला था और साए बहुत

(शिकेब जलाली)

कुछ शाइरों ने अपनी शाइरी में नयी अलामती मानवीयतों की जुस्तजू की। ऐसे शाइरों में इफ़ितखार आरिफ़, इरफ़ान सिद्दीकी, अहमद मुश्ताक, बानी और परवीन शाकिर के नाम अहम हैं।

क़यामतें गुज़र रही हैं कोई शहसवार भेज,
वो शहसवार जो लहू में रौशनी उतार दे।
वही प्यास है वही दश्त है वही घराना है,
मश्कीज़े से तीर का रिश्ता बहुत पुराना है।

(इफ़ितखार आरिफ़)

ऐ लहू में तुझे मक्तल से कहां ले जाऊँ,
अपने मंज़र ही में हर रंग भला लगता है।
देखिये किस सुब्ह-ए-नुसरत की ख़बर सुनता हूँ मैं,
लश्करोँ की आहटें तो रात भर सुनता हूँ मैं।

(इरफ़ान सिद्दीकी)

सब फूल दरवाज़ों में थे सब रंग आवाज़ों में थे,
इक शहर देखा था कभी उस शहर की क्या बात है।

(अहमद मुश्ताक)

न जाने कल हों कहां साथ अब हवा के नहीं,
कि हम परिन्दे मक़ामात-ए-गुमशुदा के हैं।

(बानी)

न सर को फोड़ के तू मर सका तो क्या शिकवा
जुनूँ शिआर कहाँ मैं भी हीर ऐसी थी
जुगनू को दिन के वक़्त परखने की ज़िद करें
बच्चे हमारे अहद के चालाक हो गये

(परवीन शाकिर)

इस जदीद ग़ज़ल और माबाद-ए-जदीद ग़ज़ल की संक्रमण रेखा पर
अहसान दानिश, अनवर शऊर, अदा जाफ़री, अहमद हमदानी, वज़ीर आगा,
फ़ारिग़ बुख़ारी, किश्वर नाहीद, महबूब ख़िज़ाँ, अमजद इस्लाम, शहज़ाद
अहमद जैसे अनेक नाम मिलते हैं जिन्होंने अपने अन्दाज़ में नये ज़ाविये
ग़ज़ल को अता किये इनके कुछ शेर मुलाहिज़ा हों—

तेरी ज़द से निकलना चाहता है
ये दरिया रूख़ बदलना चाहता है

(अमजद इस्लाम)

हम कि मग़लूबे-गुमाँ थे पहले
फिर वहीं हैं कि जहां थे पहले
ख़्वाहिशें झुर्रियाँ बनकर उभरीं
ज़ख़्म सीने में निहां थे पहले

(किश्वर नाहीद)

सितम हवा का अगर तेरे तन को रास नहीं
कहां से लाऊँ वो झोंका जो मेरे पास नहीं

(वज़ीर आगा)

तलाश करते हुये उंगलियां जला डालीं
वो तीरगी थी कि मैं शम्मा भी न देख सका

(शहज़ाद अहमद)

ऐसा महसूस किया जाने लगा था कि ग़ज़ल मौजूआत और असालीब के एक दायरे में गर्दिश कर रही है। इस दायरे से बाहर निकलने की छटपटाहट में नई ग़ज़ल की ज़मीन तैयार हो रही थी। नई ग़ज़ल के नुमाइन्दा शायरों ने सन् 1950 के बाद अपने ज़माने की ज़हनी कैफ़ियतों के इज़हार के लिए जिस लफ़्ज़ियात को तैयार किया था उसी लफ़्ज़ियात के ज़रिये हमारी शायरी 1970 के बाद तक आगे बढ़ रही थी। उन्हीं ज़हनी कैफ़ियात की तर्जुमानी कर रही थी जो बदलती हुई सूरत-ए-हाल में हमारे ज़हन-ओ-शऊर के दायरे से बड़ी हद तक बाहर हो चुकी थी।

धीरे-धीरे तब्दीली के इसी अहसास ने हमें नई ग़ज़ल की पुरानी रविश से हटकर नये तर्ज-ए-इज़हार को माबाद-ए-जदीद ग़ज़ल का नाम दिया जाने लगा। सन् 1990 तक आते-आते इस अहसास व इज़हार की नुमाइन्दगी करने वालों में कुव्वत आती गई और उन्होंने अपनी शहरी की शिनाख़्त के नये पैमानों की तलाश शुरू कर दी और रफ़ता- रफ़ता ये बात आम होने लगी कि तख़लीकी इक्दार, समाजी इक्दार से मुतास्सिर हुए बग़ैर नहीं रह सकते। अदब के इन नये तख़लीकी मुतालबों की अहमियत व मानवीयत को काफ़ी हद तक महसूस किया गया। इस नई अदबी सूरत-ए-हाल पर नये और पुराने अदीबों और फ़नकारों के दरमियान ये महसूस किया जाने लगा कि अदब का मंज़रनामा तब्दील हो रहा है और जदीदियत के बाद इस तब्दील होते हुए मंज़रनामे को माबाद-ए-जदीदियत से ताबीर करना ग़लत न होगा और जदीदतर ग़ज़ल को उन्हीं तब्दीलियों की रौशनी में देखते हुए ये नतीजा निकाला गया कि ये ग़ज़ल (माबाद-ए-जदीद ग़ज़ल) उस ग़ज़ल से मुख़्तलिफ़ है जो हमारे दरमियान 1980 के बाद तक मौजूद थी। माबाद-ए-जदीद ग़ज़ल की नुमाइन्दगी की मिसाल के तौर पर कुछ अशआर मुलाहिज़ा हों—

कल तक अपनी शर्तों पर ही ज़िन्दा थे,
अब हम भी समझौते करते रहते हैं।

(जावेद क़मर)

घर भी जा के करते हैं काम अपने दफ़्तर के,
पत्थरों में रह-रह के हो गये हैं पत्थर के।

(अफ़ज़ल गौहर)

सुना है गाँव के पीपल के पास इक पत्थर,
बहुत दिनों से मेरा इन्तिज़ार करता है।

(खुर्शीद अकबर)

गोशा नर्शी हैं अन्जुमन आरा नहीं हैं हम,
लेकिन ये मोजिज़ा है कि तन्हा नहीं हैं हम।

(तारिक मतीन)

हमको पसन्द आ गया साहिल का मश्वरा,
कश्ती की लकड़ियां थे शजर हो के रह गये।

(फ़रहत एहसास)

तय्यारों से बाढ़ का मंज़र देखा है शहज़ादों ने,
अपनी बर्बादी इस जश्न-ए-लुत्फ़-ओ करम पर हैरा है।

(अम्बर बहराइची)

तन्हाई का इक और मज़ा लूट रहा हूँ,
मेहमान मेरे घर में बहुत आये हुये हैं।

(शुजा खावर)

हमें ख़बर थी ज़बाँ खोलते ही क्या होगा,
कहां-कहां मगर आँखों पे हाथ रख लेते।

(आशिफ़ता चंगेज़ी)

उड़ने को बेक़रार परिन्दे थे शाम थी,
मौसम था हिज़्रतों का मगर आँख तर न थी।

(ख़लील तनवीर)

ये तो हर दौर में होता था सो अब भी हो जाये,
लोग हाकिम से ख़फ़ा शहर तबाही के क़रीब।

(असद बदायुँनी)

सब अपनी तमन्नाओं के नर्ग़ों में घिरे हैं,
उनमें से किसी से भी बगावत नहीं होगी।

(महताब हैदर नक़वी)

ये तेरा ताज नहीं है हमारी पगड़ी है,
य सर के साथ ही उतरेगी सर का हिस्सा है।
(खुशवीर सिंह 'शाद')

वो दर्द भरी चीख में भूला नहीं अब तक,
कहता था कोई बुत मुझे पत्थर से निकालो।
(भारत भूषण पंत)

इन अशआर में जो नया अहसास, नयी मानवीयत, तर्ज-ए-इज़हार के नये तख़लीक़ी रवैये, नयी शेअरी जिहत, नयी इशारियत और आलमियत के जो अनासिर नज़र आते हैं वो जदीद ग़ज़ल के नहीं बल्कि जदीदतर ग़ज़ल (माबाद-ए-जदीद ग़ज़ल) की शिनाख़्त हैं।

शाइरी न केवल अपने हाल से मुतास्सिर होती है बल्कि हाल पर असर भी डालती है। (जैसे आज़ादी के बाद जब मुल्क अपनी नयी शक्तो सूरत अख़्तियार कर रहा था, शाइरी में यकीनन उस दौर की, और उस दौर की आवाज़ें बाजग़श्त थीं)। दौर बदलता गया। नब्बे की दहाई में भी यह तारीख़ दोहराई जाती रही। उस समय नौजवान होती पीढ़ी की काव्य चेतना में अपने दौर की अच्छाइयों और बुराईयों का समावेश हुआ। नब्बे की दहाई में जवान होती इस नस्ल ने शाइरी के दोनों सिरों को पकड़ा। एक सिरा स्टेज तक पहुंचता था और दूसरा सिरा क्लासिकल पोट्ट्स से होता हुआ जदीदतर शाइरो के कलामों को पहुंचता था। सुनने और पढ़ने के बीच से यह पीढ़ी अपने रास्ते बनाने को बेताब थी। स्टेज पर जहां इस पीढ़ी ने बशीर बद्र, कृष्ण बिहारी नूर, परवीन शाकिर, वसीम बरेलवी, अदम गोण्डवी, बेकल उत्साही, क़तील शिफ़ाई जैसे शाइरों को सुना वहीं निदा फ़ाज़ली, क़ैसर उल जाफ़री, अख़्तर नज़्मी, शहरयार, अहमद फ़राज़, अली सरदार जाफ़री, अहसान दानिश, जॉन एलिया और जानिसार अख़्तर जैसों का कलाम पढ़ा। इस नस्ल को सिनेमाई कल्चर ने भी एक हद तक प्रभावित किया। हसन कमाल, गुलज़ार, जावेद अख़्तर जैसे फिल्मी गीतकारों ने भी नयी नस्ल को संवारने में बहुत बड़ा योगदान दिया। उनके सिनेमाई गीतों में भी शाइरी की चमक अलग-थलग रवाँ होती है जिससे यह नयी नस्ल बहुत ही मुतास्सिर हुई। बज़ाहिर इस पीढ़ी ने जो रास्ता अख़्तियार किया वो थोड़ा सा अलग

था। इस पीढ़ी की आवाज़ बेशक पुरानी पीढ़ी की तरह बहुत पुर असर नहीं थी मगर ऐसी भी नहीं थी कि उसे अनसुना कर दिया जाए। दर अस्ल यह संकलन उन्हीं आवाजों का अक्स है जो नब्बे की दहाई में शैरो-सुखन से वाकिफ़ हुई।

इस संकलन की बुनियाद कैसे पड़ी.....यदि इसकी बात करें तो यह बताना मुनासिब होगा कि यह ख़याल आया कि वह नौजवान नस्ल जिसकी आमद अदब में हो तो चुकी है मगर पुराने शाइर और नक्क़ाद यकीनन उनकी आवाजों को सुनकर भी अनसुना कर रहे हैं, उनकी रचनाओं का एक संकलन तैयार किया जाए। यह पूरी क़वायद इसलिए भी समझी जा सकती है कि जब तक शाइर पूरी तरह शिनाख़्त हासिल नहीं कर लेता वह नया ही कहलाया जाता रहता है। इस संकलन के ज़रिए एक कोशिश की गयी है कि ऐसे शुअरा जो नौजवान हैं, उन्हें इसमें शामिल किया जाए। हालांकि यह भी पर्याप्त बहस का विषय है कि 'नौजवानी' की मियाद या उम्र क्या रखी जाए। तमाम बातें सामने आईं मगर यह तय हुआ कि चालीस से कम वालों को नौजवान मानते हुए उनकी ग़ज़लों को इस मज्मुए में शामिल किया जाए।

अब इसके बाद इस संकलन की अगली चुनौती थी कि इस संकलन में किन-किन शुअरा को शामिल किया जाए।

कई जानकारों से जो माहिरीनेफ़न हैं, उनसे गुफ़्तगू हुई। बहुत से नाम सामने आए। जैसा कि मैंने शुरूआत में ही कहा था कि बहुत से नाम ऐसे थे जो स्टेज पर लगातार 'बरामद' होते रहते हैं, बहुत से नाम बिल्कुल ही नए थे। स्टेज पर अपने कलाम से तालियां बटोरने वाले तमाम शुअरा ऐसे थे जो मकबूल तो हैं मगर उनके कलाम को अदब के हवाले से देखा जाना काफी मुश्किल है। कुछ नाम ऐसे भी थे जो देखने में अनजान से थे मगर उनके कलाम में कशिश ऐसी कि दरबार-ए-ग़ज़ल में अपना लोहा मनवा चुके शुअरा के भी माथे पे बल पड़ जाएं। जनाब मंसूर उस्मानी, मोहतरम तुफ़ैल चतुर्वेदी, मोहतरम आदिल रज़ा मंसूरी, जनाब मनीष शुक्ल के साथ मशिवरा-गुफ़्तगू करके एक नतीजे पर पहुँचने की कोशिश की गयी। इसी बीच कई रिसालों-मैगज़ीनों को भी खंगाला गया, एडीटर्स को भी परेशान किया गया। सोशल साइट्स पर भी हाथ साफ़ किए गए।

एक सच यह भी है कि रचनाकार उसी ज़ुबान में अपने अहसासों

को व्यक्त कर सकता है जिसे वह बोलता-समझता है। हम जिस नस्ल की बात यहां कर रहे हैं उस नस्ल की पैदाइश और परवरिश उस समय की है जब उर्दू-हिंदी के बीच की दरार की बात तो छोड़िये बोलचाल की भाषा में हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी की त्रिवेणी बह रही थी। ज़ाहिर है इस भाषाई 'ओवर लैपिंग' से इस दौर की गज़ल का सामना हुआ और शायद इसीलिए नब्बे की दहाई में जो गज़लें लिखी गयीं उनमें बोलचाल के वे तमाम शब्द शामिल किए गए जो किसी भाषा विशेष के प्रतीक होने की बजाय सहज बोलचाल के प्रतीक थे। इस दौर के शाइरों का एक सच यह भी था कि इनमें से ज़ियादातर उर्दू की रस्मुलख़त और गज़ल के अरूज़ से पूरी तरह वाकिफ़ नहीं थे। कई शुअरा तो ऐसे थे जिनकी तालीम बाक़ायदा अंग्रेजी स्कूलों में हुई, लिटरेचर उनका सब्जेक्ट भी नहीं रहा, साइंस बैकग्राउण्ड रहा लेकिन इसके बावजूद उनका हिन्दुस्तानी तहज़ीब और ज़ुबान से लगाव उन्हें गज़ल लेखन की ओर खींच लाया।

बहरहाल! 'दस्तक' उन तमाम शुअरा को आप हज़रात के सामने लाने की महज छोटी सी कोशिश भर है, मुम्किन है कि तमाम ऐसे शुअरा हमारी नज़र से छूट गए हों जो इस मज्मुअे में शामिल होते तो यह कोशिश और बेहतर होती मगर यह मानते हुए कि हरेक कोशिश में गुंजाइश हमेशा बनी रहती है, और इस पर अमल करते हुये हमने अपना काम अंजाम दिया है। उन सभी शुअरा से मुआफ़ी मांगते हुए कि जिनका नाम यदि भूलवश हम शामिल न कर पाये हों। इस कोशिश को आप सब तक लाने में प्रकाशन संस्थान के श्री शर्मा जी का विशेष रूप से शुक्र गुज़ार हूँ कि उनकी कोशिशों से बहुत ही कम समय में इस मज्मुअे का प्रकाशन मुमकिन हुआ। ये संकलन मेरी तमाम कोशिशों के बाद भी ऐसी शक्ल अख़्तियार न कर पाता अगर इसमें डॉ. लाल रत्नाकर (चित्रकार), श्री उमापति (प्रवक्ता उर्दू), अंजू सिंह (शरीक-ए-हयात) का सहयोग न मिलता। आप सब का आभारी हूँ! एक बार फिर सभी शुअरा का और खुसूसन जनाब अक़ील नोमानी, तुफ़ैल चतुर्वेदी, मयंक अवस्थी, आदिल रज़ा मंसूरी, मनीष शुक्ला का तहेदिल से शुक्रिया!

हमारी कोशिशें आपके प्यार की मुन्तज़िर हैं.....!

—पवन कुमार

अनुक्रम

विकास शर्मा 'राज'	19
सगीर आलम	25
सालिम सलीम	31
ग़ालिब अयाज	37
मुईद रशीदी	43
स्वपनिल तिवारी	49
पराग अग्रवाल	55
दिनेश नायडू	61
सैय्यद तालीफ़ हैदर	67
जिया जमीर	72
इरशाद खान सिकन्दर	78
मनोज अज़हर	84
अभिषेक शुक्ला	90
सिराज फ़ैसल ख़ान	96
गौतम राजरिशी	102
वृजेश अम्बर	108

‘सज्जन’ धर्मेन्द्र	114
विपुल कुमार	120
वीनस केसरी	126
अंकित सफ़र	132
आदिल रज़ा मंसूरी	137
प्रखर मालवीय	143
अमीर इमाम	149
जतिन्दर ‘परवाज़’	155
पवन कुमार	161

विकास शर्मा 'राज'

जब यह मज्मुआ आप पढ़ रहे होंगे तब तक विकास शर्मा राज चालीस की सीमा पार कर चुके होंगे, मगर जब इस मज्मुआ का ड्राफ़्ट हुआ था तब वे इस दायरे के अन्दर थे। दिसम्बर 73 की पैदाइश वाले विकास नयी नस्ल के ऐसे शाइर हैं जिनकी गज़लें आदमी की छटपटाहट का अहसास कराती हैं। सोनीपत (हरियाणा) के विकास शर्मा पेशे से अध्यापक हैं। उनका गज़ल संग्रह “बारिश खारे पानी की” पहले ही काफ़ी मकबूल हो चुका है। नयी नस्ल के सबसे ज़्यादा पोटेंशियल वाले शाइर के रूप में यदि विकास को रखा जाये तो ग़लत न होगा।

(1)

रोज़ ये ख़्वाब डराता है मुझे
कोई साया लिए जाता है मुझे

ये सदा! काश उसी ने दी हो
इस तरह वो ही बुलाता है मुझे

मैं खिंचा जाता हूँ सहरा की तरफ़
यूँ तो दरिया भी बुलाता है मुझे

देखना चाहता हूँ गुम हो कर
क्या कोई ढूँढ़ के लाता है मुझे

इश्क़ बीनाई बढ़ा देता है
जाने क्या-क्या नज़र आता है मुझे

(2)

हवा चले न चले, मह्वे-यास हो जाऊँ
चराग़ खुद ही बुझाऊँ उदास हो जाऊँ

कई दिनों से अजब-सा जुनून तारी है
ख़ला को ओढ़ लूँ मैं बेलिबास हो जाऊँ

तेरी किताब में कुछ तो जगह मिले मुझको
किसी वरक़ पे कोई इक़्तिबास हो जाऊँ

कहीं क़रार न आ जाए हिज़्र में मुझको
तेरे ख़तों को पढ़ूँ बदहवास हो जाऊँ

फिर उसके बाद कभी तश्नगी बुझे न तेरी
तेरे लबों पे रहूँ तेरी प्यास हो जाऊँ

(3)

मंज़िलों से भी आगे निकलता हुआ
गिर पड़ा मैं बहुत तेज़ चलता हुआ

मेरी मिट्टी भी उस दिन से गर्दिश में है
चाक तेरा है जिस दिन से चलता हुआ

धूप के हाथ अचानक ही शल हो गये
हो गया मुंजमिद मैं पिघलता हुआ

मुन्तज़िर थी उसी की समाअत मेरी
तेरे होंठों पे जो है मचलता हुआ

धूप-दरिया में खुलता है ये रास्ता
सब्ज़ पेड़ों के हमराह चलता हुआ

दिल की वादी में फिर धुंध उतरती हुई
मेरे अन्दर का मौसम बदलता हुआ

(4)

अपने हालात में बदलाव नहीं चाहता मैं
ज़ात के जिस्म पे और घाव नहीं चाहता मैं

देर तक रखती है बेसुध मुझे सोंधी खुशबू
दिल! तेरी मिट्टी पे छिड़काव नहीं चाहता मैं

पहली बारिश में ही हो जाएं हरे ज़र्द शजर
रफ़ता-रफ़ता कोई बदलाव नहीं चाहता मैं

याद का चाँद न उभरे तो बहुत अच्छा हो
हिज़्र की रात का दुहराव नहीं चाहता मैं

इस क़दर क्यों है भरोसा मुझे इन लहरों पर
क्यों कोई तिनका कोई नाव नहीं चाहता मैं

खुद वो ज़ख़्मों को सिले या मुझे मर जाने दे
और इस शर्त में बदलाव नहीं चाहता मैं।

(5)

हवा के साथ यारी हो गई है
दिये की उम्र लम्बी हो गई है

फ़क़्त ज़ंजीर बदली जा रही थी
मैं समझा था रिहाई हो गई है

बची है जो धनक उसका करूँ क्या
तेरी तस्वीर पूरी हो गई है

लगाकर क़हक़हा भी कुछ न पाया
उदासी और गहरी हो गई है

मुझे मंज़िल नज़र आई है जब से
मेरी रफ़्तार धीमी हो गई है

क़रीब आ तो गया है चाँद मेरे
मगर हर चीज़ धुँधली हो गई है

सगीर आलम

ठाकुरद्वारा (मुरादाबाद) के सगीर आलम महज 32 बरस के हैं। 1981 में पैदा हुये सगीर ने उर्दू में पोस्ट ग्रेजुएट डिग्री हासिल की। 1996 से शायरी का शौक़ हुआ। 2000 में पहली गज़ल रिसाले में छपी। तब से अब तक गज़लगोई का सफर जारी है। सामान्यतया छोटी बहरों में गज़लगोई करते हुए बड़ी बातें, बड़े अहसास कहने की कोशिश करते हैं।

(6)

ये अलग बात हम सफ़र में रहे,
तेरे जलवे मगर नज़र में रहे॥

उसने छोड़ा था फ़ैसला हम पर,
वो तो हम ही अगर मगर में रहे॥

एक तू ही नहीं था मेरे लिए,
और भी मसअले नज़र में रहे॥

कोई तो हो जो मुझसे ये पूछे,
घर में कब और कब सफ़र में रहे॥

ज़िन्दगी भर न हो सके अपने,
ज़िन्दगी भर तेरे असर में रहे॥

उम्र भर ढूँढते रहे उसको,
उम्र भर ख़्वाब के नगर में रहे॥

(7)

दिल का खोना बहुत ज़रूरी है,
इश्क़ होना बहुत ज़रूरी है॥

जिसके सीने में दर्द ठहरा हो,
उसका रोना बहुत ज़रूरी है॥

उससे होनी हैं ख़्वाब में बातें,
मेरा सोना बहुत ज़रूरी है॥

सिर्फ़ यादों से घर नहीं बनता,
तेरा होना बहुत ज़रूरी है॥

इतना आसों नहीं है पा लेना,
पहले खोना बहुत ज़रूरी है॥

(8)

वो जो मुझसे मिलता नई,
शायद मुझको समझा नई॥

जब तक उसको सोचा नई,
दिल का आँगन महका नई॥

उसको कैसे भूलूँ मैं,
अब ये मेरे बस का नई॥

उसका ग़म है मेरा ग़म,
मेरा ग़म क्यों उसका नई॥

अब तो ऐसा लगता है,
सच भी जैसे सच्चा नई॥

अब तो सब ही करते हैं,
प्यार किसी को होता नई॥

मुझको ज़िन्दा रखता है,
वो जो मुझपे मरता नई॥

(9)

प्यार तुम्हीं से करते थे,
तब हम कितने सच्चे थे॥

कैसी-कैसी रातें थीं,
कैसे-कैसे सपने थे॥

याद है तुमको ऐ-जानों,
हम तुम कितना हँसते थे॥

सब कुछ सच्चा लगता था,
जब हम छोटे बच्चे थे॥

आँखें तेरी बरसी थीं,
शाने मेरे भीगे थे॥

ज़र्ज़र तड़पा था,
हम दोनों जब बिछड़े थे॥

(10)

मुझसे कैसी ख़ता हो गई,
सारी दुनिया ख़फ़ा हो गई॥

जब से उनकी वफ़ा हो गई,
ज़िन्दगी आशना हो गई॥

उसको सोचा तो ऐसा हुआ,
दर्द-ए-दिल की दवा हो गई॥

अब तो देने लगा है सुक़्क़,
दर्द की इन्तिहा हो गई॥

जो भी माँगा वही न मिला,
मेरी दुश्मन दुआ हो गई॥

सालिम सलीम

1985 में आजमगढ़ में जन्मे सालिम सलीम भी नयी नस्ल के होनहार शायर हैं। अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी से ग्रेजुएशन करने के बाद उन्होंने जामिया और जे.एन.यू. से आगे की पढ़ाई की। वे पूरी तरह उर्दू की तरक्की के लिए खुद को समर्पित कर चुके हैं। फिलहाल वे 'रेख्ता' वेबसाइट में रिसर्च असिस्टेंट के रूप में कार्य कर रहे हैं। मो. अलवी, ज़फर इक़बाल और रईस फ़रोग को पसंद करने वाले सालिम का अभी तक कोई मज्मुआ शायर नहीं हुआ है लेकिन अगले बरस तक इसकी भी उम्मीद है। जो वे देखते हैं, महसूस करते हैं उसे व्यक्त करते हैं, इसी इज़हार को वे शाइरी का नाम देते हैं।

(11)

न छीन ले कहीं तन्हाई डर सा रहता है
मेरे मकां में वह दीवार ओ दर सा रहता है।
कभी कभी तो उभरती है चीख सी कोई
कहीं कहीं मेरे अन्दर खन्डर सा रहता है।
वह आसमाँ हो कि परछाई हो कि तेरा खयाल
कोई तो है जो मेरा हम सफ़र सा रहता है।
मैं जोड़-जोड़ के जिसको ज़माना करता हूँ
वह मुझसे टूटा हुआ लम्हा भर सा रहता है।
ज़रा सा निकले तो ये शहर उलट पलट जाये
वह अपने घर में बहुत बेज़रर सा रहता है।
बुला रहा था वह दरिया के पार से एक दिन
जभी से पाँव में मेरे भँवर सा रहता है।
न जाने कैसी गरानी उठाये फिरता हूँ
न जाने क्या मेरे काँधे पे सर सा रहता है।
चलो सलीम ज़रा कुछ इलाज-ए-जाँ कर लें
यहीं कहीं पे कोई चारागर सा रहता है।

(12)

बदन सिमटा हुआ और दस्त-ए-जाँ फैला हुआ है,
सो ता हद्द-ए नज़र वहमओ गुमां फैला हुआ है।

हमारे पाँव से कोई ज़मीं लिपटी हुई है,
हमारे सर पे कोई आसमाँ फैला हुआ है।

ये कैसी ख़ामशी मेरे लहू में सरसराई,
ये कैसा शोर दिल के दरमियाँ फैला हुआ है।

तुम्हारी आग में खुद को जलाया था जो एक शब,
अभी तक मेरे कमरे में धुआँ फैला हुआ है।

हिसार-ए-ज़ात से कोई मुझे भी तो छुड़ाइये,
मकाँ में कैद हूँ और लामकाँ फैला हुआ है।

(13)

दालान में कभी, कभी छत पर खड़ा हूँ मैं,
सायों के इन्तज़ार में शब भर खड़ा हूँ मैं।

क्या हो गया कि बैठ गई खाक भी मेरी
क्या बात है कि अपने ही ऊपर खड़ा हूँ मैं

सन्नाटा मेरे चारों तरफ़ है बिछा हुआ,
बस दिल की धड़कनों को पकड़ कर खड़ा हूँ मैं।

सोया हुआ है मुझमें कोई शख्स आज रात,
लगता है अपने जिस्म से बाहर खड़ा हूँ मैं।

इक हाथ में है आईना-ए-ज़ात ओ काएनात,
इक हाथ में लिए हुए पत्थर खड़ा हूँ मैं।

(14)

काम हर रोज ये होता है किस आसानी से,
उसने फिर मुझको समेटा है परेशानी से।

मुझमें खुलता है तेरी याद का जब बाब-ए-तिलिस्म,
तंग हो जाता हूँ एहसास-ए-फ़रावानी से।

आखिरश कौन है जो घूरता रहता है मुझे,
देखता रहता हूँ आईने को हैरानी से।

मेरी मिट्टी में कोई आग सी लग जाती है,
जो भड़कती है तेरे छिड़के हुये पानी से।

था मुझे ज़ोम कि मुश्किल से बँधी है मेरी ज़ात,
मैं तो खुलता गया उस पर बड़ी आसानी से।

कोई हंगामा करें सुबह के आ जाने तक,
रात कटने की नहीं किस्सा-ए-तूलानी से।

(15)

खुद अपनी ख्वाहिशें खाके बदन में बाने को,
मेरा वजूद तरसता है मेरे होने को,

ये देखना है कि बारी मेरी कब आयेगी,
खड़ा हूँ साहिल-ए दरिया पे लब भिगोने को।

अभी से क्या रखें आँखों पे सारे दिन का हिसाब,
अभी तो रात पड़ी है ये बोझ ढोने को।

न कोई तकिया-ए गुम है न कोई चादर-ए ख़्वाब,
हमें ये कौन सा बिस्तर मिला है सोने को।

वह दूर था तो बहुत हसरतें थीं पाने की,
वह मिल गया है तो जी चाहता है खोने को।

ग़ालिब अयाज

ग़ालिब अयाज़ अपनी उम्र से कहीं ज़ियादा बड़े शाइर हैं। महज़ बत्तीस बरस के ग़ालिब अयाज़ की ग़ज़लें सहरा में समन्दर हैं। उनकी ग़ज़लों में इस्तेमाल हुये अल्फ़ाज़ नयी ख़नक के साथ अपनी शिनाख़्त का अहसास कराते हैं। बेगूसराय (बिहार) से तअल्लुक रखने वाले ग़ालिब ने 19 बरस की उम्र में लिखना शुरू किया, पटना से प्रकाशित होने वाले क़ौमी तंज़ीम अख़बार में छपे। आजकल दिल्ली में SEO एक्सपर्ट हैं।

(16)

जबीन-ए-शौक़ पे गर्द-ए मलाल चाहती है,
मिरी हयात सफ़र का मआल चाहती है।

मैं वुसअतों का तलबगार अपने इश्क़ में हूँ,
वह मेरी ज़ात में इक यर्ग़माल चाहती है।

हमें ख़बर है कि उस मेहरबाँ की चारागरी,
हमारे ज़ख़्मों का कब इंदिमाल चाहती है।

तुम्हारे बाद मेरी आँख ज़िद पे आ गई है,
वही जमाल वही ख़दओ ख़ाल चाहती है।

हम उसके ज़ब्र का किस्सा तमाम चाहते है,
और उसकी तेग़ हमारा ज़वाल चाहती है।

हरी रूतों को इधर का पता नहीं मालूम,
बरहना शाख़ अबस देख भाल चाहती है।

(17)

बस तेरे लिये उदास आँखें,
उफ!! मस्तहत ना शनास आँखे,

बेनूर हुई हैं धीरे-धीरे,
आर्यीं नहीं मुझको रास आँखें।

आखिर को गया वह, काश रुकता,
करती रहीं इल्लिमास आँखें।

ख़्वाबीदा हकीकतों की मारी
पामाल और बद हवास आँखें।

दरपेश जुनूँ का मरहला, और
फ़ाका है बदन तो प्यास आँखें।

(18)

सर मेरा काम ये कर आया था,
कू ए क़ातिल से गुज़र आया था।

अपनी ही खोज में सरगर्दा हूँ,
मैं कहाँ जा के बिखर आया था।

क्या पता उसकी हैं कितनी शक्तें!!
रात तो आँख में भर आया था ।

दशत-ए-गुरबत में खयाल आता है,
घर भी दौरान-ए-सफ़र आया था।

संगबारी से वह बचते-बचते,
गहरे पानी में उतर आया था।

शाइरी आज सर-ए-राह मिली,
रंग रूप उसका निखर आया था।

(19)

कभी विसाल कभी इन्तिज़ार करते हुये,
कटी हयात यही कारोबार करते हुये।

वह अपने जुल्म के फ़न में कमाल-ए फ़न की तरफ़,
हम उनसे रिश्त-ए-दिल उस्तुवार करते हुये।

बची जो उम्र तो फिर तेरे शहर आयेंगें,
हम अपने जख़्म-ए-तमन्ना शुमार करते हुये।

गुज़र न जाये ये तजदीद-ए-अहद का मौसम,
मस्लहत की फ़ज़ा साज़गार करते हुये।

ज़मीं को ज़र्द लबादा पसन्द आता हुआ,
फ़लक दरख़्तों को बे बर्ग-ओ-बार करते हुये।

(20)

तेरी रानाई पे वारे जायें,
चाँद बुझ जाये, सितारे जायें।

हैं धनक रंग मनाज़िर हर सू,
हम मगर तुझको निहारे जायें।

जो हमें तुझसे जुदा करती हो,
काश उस राह में मारे जाये।

नक्द-ए-जाँ अब किसे इरसाल करें,
सर बकफ़ किस के सहारे जायें।

मंजिलें ख़त्म कहाँ होती हैं,
रास्ते पाँव पसारे जायें।

मुईद रशीदी

1988 की पैदाईश वाले मुईद रशीदी भी बला के शाइर हैं। उनके जौके सफ़र के बारे में यह बात कहना ग़लत नहीं होगा कि इस नौजवान ने अब तक की अपनी उम्र 'उर्दू' के दरख़्त को हरा करने में ही सफ़र कर दी। वालिद से ग़ज़ल पढ़ने का शौक विरासत में मिला जो बाद में ग़ज़ल कहने में तब्दील हुआ। दिल्ली में रहकर उर्दू विषय में ही पोस्टग्रेजुएशन किया और अब इसी विषय से डाक्टरेट की डिग्री पाने की तरफ़ बढ़े हुये हैं। बानी मनचन्दा, इरफ़ान सिद्दीकी, मुनीर, ज़फ़र इक़बाल को पसंद करने वाले मुईद को पिछले बरस ही साहित्य अकादमी का युवा कैटगरी में अवार्ड मिला। शाइरी उनकी रग-रग में यूँ बस गयी है कि हर चीज़ को वे शाइरी के ज़ाविए से देखते हैं और मज़े की बात यह कि उन्हें हर चीज़ में शायराना पहलू नज़र आता है.....बानगी देखिए।

(21)

ये मो'जिज़ा है कि मैं रात काट देता हूँ,
न जाने कैसे तिलिस्मात काट देता हूँ।

वह चाहते हैं कि हर बात मान ली जाये,
और एक मैं हूँ कि हर बात काट देता हूँ।

नमी सी तैरती रहती है मेरी आँखों में,
ब इख़्तियार मैं बरसात काट देता हूँ।

तिरा ख़याल ही अब मेरा इस्म-ए-आज़म है,
इसी से सारे ख़यालात काट देता हूँ।

ये रात काटती रहती है सुबह तक मुझको,
न जाने कैसे मैं हर रात काट देता हूँ।

(22)

आँधियाँ शोर मचाती हैं कि तारी हुई रात,
आग रौशन हुई सीने में तो जारी हुई रात,

अजनबी शहर में कुछ खौफ़ सा महसूस हुआ,
ओढ़ ली मैंने ख़मोशी से उतारी हुई रात ।

मैंने इक बार बुलाया था इसी सिम्त उसे,
आज तक गूँजती रहती है पुकारी हुई रात ।

जादा-ए शब से गुज़रते हुये हर सुब्ह के बाद,
लौट आती है मिरे जिस्म में हारी हुई रात ।

जाने ये कौन सी मन्ज़िल है जहाँ हिन्न न वस्त,
मुझमें बस रेंगती रहती है गुज़ारी हुई रात ।

मैं समझता था कि आसान रहेगी मुझ पर,
पर ग़लत ठहरा कि मुझ पर बड़ी भारी हुई रात ।

(23)

जीना मरना, मरना जीना, हर पल है,
फिर भी कोई अन्दर जैसे बेकल है।

कैसी-कैसी रूहें चीखती रहती हैं,
शहर नहीं आवाज़ों का एक जंगल है।

दूर तलक आसेब, खंडर है यादों का,
ध्यान जमा कर बैठा कोई पागल है।

सर के ऊपर साया था कुछ सायों का,
हम समझे थे शायद सर पर बादल है।

सन्नाटों का शोर है मेरे अन्दर तक,
अन्दर बाहर, बाहर अन्दर हलचल है।

बैठ गया हूँ अपनी ज़ात के पत्थर पर,
चारों ओर तमाशों का इक दलदल है।

(24)

सर्द रातों में तमाज़त का सबब पूछती है,
तीरगी है कि इबादत का सबब पूछती है।

मैं अँधेरों की सियासत में मुलव्वस भी नहीं,
रौशनी मुझसे बगावत का सबब पूछती है।

शहर अब माँगता है साँस भी लेने का हिसाब,
ज़िन्दगी मुझसे क़यामत का सबब पूछती है।

मैं तो डूबा था कहीं और उभरने के लिये,
मुझसे हर मौज इनायत का सबब पूछती है।

जैसे इस बाब में कुछ भी नहीं मालूम उसे,
ख़ामुशी ऐसे शिकायत का सबब पूछती है।

(25)

लगता है तबाही मिरी किस्मत से लगी है,
ये कौन सी आँधी मिरे अन्दर से उठी है।

उस बार उजालों ने मुझे घेर लिया था,
इस बार मेरी रात मेरे साथ चली है।

कैसे कोई बस्ती मेरे अन्दर उतर आये,
इस बार तो तन्हाई मेरी जाग रही है।

कैसे कोई दरिया मेरे सीने से गुज़र जाये,
रस्ते में अना की मिरी दीवार खड़ी है।

वीरान हवेली की तरह अब मेरे अन्दर,
भटकी हुई रूहों की सदा गूँज रही है।

इस बार अँधेरा मिरी नस-नस में भरा है,
इस बार चिरागों से शिकायत भी बड़ी है।

स्वपनिल तिवारी

स्वपनिल तिवारी नयी उम्र के सबसे प्रामिसिंग (Promising) शायर हैं। उनकी शायरी में जो चीज सबसे ज़्यादा प्रभावित करती है वह है उनकी ताज़गी। शेर पढ़िए तो लगता है कि जैसे वे शायरी नहीं पेन्टिंग कर रहे हों। महज़ 28 बरस के स्वपनिल से भविष्य में बहुत सी उम्मीदें रहेंगी। फिलहाल वे बायोटेक से ग्रेजुएशन करने के उपरान्त मुंबई के फिल्मी संसार में अपना मुकाम बनाने की कोशिश में हैं। कभी वे स्क्रिप्ट राइटर की हैसियत से अपनी मंज़िलें तलाशते हैं तो कभी शाइर की हैसियत से। यह बात अलहदा है कि उनका लक्ष्य तो फ़िल्म डाइरेक्टर बनना है। बहुत कुछ कर गुज़रने की जद्दोजहद स्वपनिल की ग़ज़लियात में भी साफ़ नुमांयाँ होती है। उ.प्र. के गाज़ीपुर से ताल्लुक रखने वाले इस नौजवान शाइर को प्रेरणा अपनी माँ से मिली जो हिन्दी में पी.एच.डी. हैं। अताउल्ला खां और फिर जगजीत सिंह की ग़ज़लें सुनते हुए स्वपनिल कब ग़ज़ल लेखन की ओर मुड़े पता ही नहीं चला...। फ़िलहाल अदब को बड़ी उम्मीदें हैं इस नौजवान शाइर से!

(26)

कहे सूरज से कोई अब तो अपने रोक ले पत्थर
उड़ाता है वो रंगों को चला कर धूप के पत्थर

मेरी ये वापसी रस्तों को नामुकिन सी लगती थी
मुझे तकते हैं हैरानी से सारे मील के पत्थर

मुहब्बत थी कि जिसने पत्थरों का जी किया हल्का
वगरना नाम में क्या था कि ऐसे तैरते पत्थर

मैं उसकी वजह से ही पा सका हूँ अपना ये किरदार
मेरी माँ ने बड़ी फुर्सत से चावल से चुने पत्थर

यहाँ, दिल में, रहे आँखों के आँसू एक मुद्दत तक
यहाँ यादों के हैं नीले हरे काई लगे पत्थर।

यही पत्थर अजन्ता में है अफ़साना निगारों सा
जो आँखों में समाअत हो सुनो जो भी कहे पत्थर

बहुत पहले लगी थी आग 'आतिश' बाग के दिल में
अभी भी मिलते रहते हैं यहाँ पे कुछ जले पत्थर

(27)

ये रोज़ सी ही उदास शब है, इसे भी यूँ ही बिता रहा हूँ
अकेले कमरे में एक बत्ती जला रहा हूँ बुझा रहा हूँ

मिरी ही जानिब तमाम मौजें बढ़ी चली आ रही हैं पल-पल
में इक जज़ीरे पे अपनी धुन में ग़मों की बंसी बजा रहा हूँ

खुली है माज़ी में एक खिड़की तुम्हारी यादों की कुछ दिनों से
इसी से कब से मैं एक चिड़िया को अपने घर में बुला रहा हूँ

लगाये बैठे हैं कान अपने तमाम तारे मिरी ही जानिब
में एक बच्चे को परियों वाला हसीन क्रिस्सा सुना रहा हूँ

कहीं उदासी न जाग जाये, कहीं ख़मोशी न टूट जाये
दबा के अपनी हरेक आहट मैं अपने कमरे में जा रहा हूँ

जो जाते जाते तमाम रस्तों पे नींद मेरी गिरा गयी है
उन्हीं अधूरे हसीन ख़ाबों को पलकों से मैं उठा रहा हूँ

उजाला आँखों में चुभ रहा है धुआँ भी आँखों में लग रहा है
ये मेरी फ़ितरत नहीं है 'आतिश' मगर दिये को बुझा रहा हूँ।

(28)

दिन के पहले ही पहर में अपना बिस्तर छोड़कर
रौशनी निकली है नींद अपनी फ़लक पर छोड़कर

रेगज़ारों का अकेलापन डराता है उसे
रेत जाये भी कहाँ आख़िर समंदर छोड़कर

वो मुसव्विर दर मुसव्विर खो रही है अपने रंग
इक धनक भटकी है कितना अपना अम्बर छोड़कर

वक़्त है अब भी मना लूँ चल के उसको एक दिन
घर निकल जायेगा वरना एक दिन घर छोड़कर

आंसुओं थोड़ी मदद मुझको तुम्हारी चाहिये
ग़म चले जायेंगे वरना दिल को बंजर छोड़कर

खाब आँखें छोड़कर कहिये कहाँ जायेंगे अब?
सिलवटें क्या मर नहीं जायेंगी चादर छोड़कर?

जल उठेंगे पाँव 'आतिश' उनके छूते ही ज़मीं
खाब गर उतरे मिरी आँखों का बिस्तर छोड़कर

(29)

मिलेगी राहत किसे सफ़र से
थकन तो लेकर चले थे घर से

अभी पलक पर पलक न बैठी
ये ख़ाब आने लगे किधर से

फ़लक पे कुछ देर चाँद ठहरा
विदाअ लेते हुए सहर से

बढ़े हैं दिल के सहारे ग़म, जूँ
लताएँ लग कर बढीं शजर से

तवील नाँवेल में ज़िंदगी के
तमाम क्रिस्से हैं मुख़्तसर-से

वो देखते देखते ही इक दिन
उतर गया था मिरी नज़र से

धुँए से 'आतिश' जलेंगी आँखें
जले नहीं हम इस एक डर से

(30)

वो जहाँ हैं वहीं खयाल मेरा
मुस्तक़िल हो गया विसाल मेरा

प्यार से देखा फिर मुझे उसने
फिर से ओहदा हुआ बहाल मेरा

खो के खुद को बहुत ही खुश है ये
ऐसी दुनिया को क्या मलाल मेरा

अपनी यादों की रौशनी कम कर
इसने सोना किया मुहाल मेरा

ताकि तू रह सके खुदा ...! मुझमें
मुझसे आसेब अब निकाल मेरा

आया पल भर को सर पे साया, फिर
धूप को आ गया खयाल मेरा

तू मुझे आजमा न और 'आतिश'
तेरा जलना भी है कमाल मेरा

पराग अग्रवाल

1982 की पैदाइश वाले पराग अग्रवाल मूलतः आर्किटेक्ट हैं। धार (म.प्र.) निवासी पराग अग्रवाल के वालिद पेशे से डॉक्टर हैं पराग को गज़ल पढ़ते-पढ़ते कहने का आज़ार लग गया। फ़िलहाल बड़ी ख़ामोशी से वे अपने काम में लगे हैं। लैण्डस्केप डिज़ाइनिंग में मास्टर्स डिग्री कर रहे है पराग को 2006 से गज़ल कहने की आदत पड़ी वे वर्तमान में दिल्ली में रहते हुये डिज़ाइनिंग और शाइरी दोनों एक साथ कर रहे हैं। उनकी डिज़ाइनिंग की छाप उनकी शाइरी पर भी दिखाई पड़ती है.....मुलाहिज़ा फरमाएं—

(31)

मैं ही जब नहीं मिला रौशनी के जिस्म में,
फिर मैं किसको ढूँढता रौशनी के जिस्म में,

दूर तक कोई न था रौशनी के जिस्म में,
फिर मैं कैसे गूँजता रौशनी के जिस्म में,

रौशनी के जिस्म में एक लकीर थी कभी
अब है एक दायरा रौशनी के जिस्म में,

करने आया था रिहा रौशनी को मैं मगर
कैद होके रह गया रौशनी के जिस्म में,

मैं भी अब नहीं वहाँ तू भी अब नहीं वहाँ
अब है कोई दूसरा रौशनी के जिस्म में,

अब मुझे बता ज़रा क्या है तीरगी का राज़
ले मैं फिर से आ गया रौशनी के जिस्म में,

कहकशाँ के जिस्म को कर लिया किसी ने पार
और कोई रह गया रौशनी के जिस्म में,

(32)

नदी की सतह पे देखी जो धुंध उभरती हुई
लगा के जैसे कोई रौशनी है मरती हुई

ठिकाना उसका मेरे बाम की मुंडेर पे है
वो एक शै जो है फ़िरदौस से गुज़रती हुई

मेरा वजूद सँवारा अभी अभी उसने
अभी तो देखी थी मैंने वह शै बिखरती हुई

तेरे बदन की तरफ़ फिर से लौट आई है
मिरे बदन से तिरी रौशनी गुज़रती हुई।

ज़रूर शब के कुछ आसेब उसके पीछे थे
सहर ज़मीन पे आई है साँस भरती हुई

सहर का नंगा बदन चीख़ता रहा शब भर
कि शाम देख ले अपनी क़बा उतरती हुई

(33)

सर पे जो है ये आसमां, ये भी कोई तिलिस्म है
और जो है ये दरमियाँ, ये भी कोई तिलिस्म है।

मैं हूँ करीब ए लामकां, लगता है फिर भी ये मुझे
दूर है मुझसे लामकां, ये भी कोई तिलिस्म है।

मेरे बदन में खो गया, ये तेरा जिस्म-ए-आतिशीं
छा गया हर तरफ धुँआ, ये भी कोई तिलिस्म है।

एक मेरा दयार था, सबके यहाँ वहाँ से दूर
कैसे हुआ यहाँ वहाँ, यह भी कोई तिलिस्म है।

ठहरा हुआ वजूद है, बूद-ओ-नाबूद में मिरा,
और बदन रवाँ दवाँ, ये भी कोई तिलिस्म है।

जिस्म के टुकड़े हो गये, और है पारा पारा रूह
और मैं फिर भी शादमाँ, ये भी कोई तिलिस्म है।

मेरी वो गर्द-ए-कारवाँ, उड़ती है ज़ेहन में तिरे
मुझमें है तेरा कारवाँ, ये भी कोई तिलिस्म है।

(34)

जो यक्रीं से और गुमाँ से रौशनी गुज़री नहीं
इसका मतलब जिस्मो जाँ से रौशनी गुज़री नहीं

हर जगह देखी हुई है, घर हो या हो आसमां
जानता हूँ मैं कहाँ से, रौशनी गुज़री नहीं

कैसे रंगीं हो गया था फिर तेरा कौस-ए कुज़ा
जब कि मेरे आसमाँ से, रौशनी गुज़री नहीं

कैसे रौशन हो गये हैं, फिर नवाह-ओ-शशजिहात
के अभी तो लामकां से रौशनी गुज़री नहीं

मैं वहाँ होता, जहाँ ठहरी हुई थी तीरगी
या वहाँ होता जहाँ से रौशनी गुज़री नहीं

(35)

कभी गहरा कभी उथला निकाला
हवा के जिस्म से दरिया निकाला

किसी ने जिस्म से चेहरा निकाला
किसी ने अक्स से शीशा निकाला

बदन कर दफ़्न अपना कहकशां में
ख़ला से आपका साया निकाला

निकाला आख़िरी को सबसे पहले
फिर उसके बाद में दूजा निकाला

मिलाया बीच से दोनों सिरों को
फिर उसके बीच से आधा निकाला

मुझे हैरत हुई जब उसने मेरे
बदन से आपका साया निकाला

दिनेश नायडू

नौजवान शाइरों की फ़ेहरिस्त में दिनेश नायडू भी एक दुलारा नाम है। इंजीनियरिंग बैकग्राउण्ड वाले दिनेश भिलाई (छत्तीसगढ़) के रहने वाले हैं। मैकेनिकल इंजीनियरिंग करने के बाद वे मैहर (म.प्र.) स्थित एक सीमेन्ट फ़ैक्ट्री में कार्यरत हैं। कालेज के दिनों से लेखन में रूचि जगी बाद में ग़ज़ल लेखन की ओर मुखातिब हुए। जॉन एलिया, फ़ैज़, तुफ़ैल चतुर्वेदी को पसन्द करने वाले दिनेश को जीवन की सच्चाइयां व आस पास घटने वाली चीज़ें ही ग़ज़ल लिखने को प्रेरित करती हैं। फुटकर तौर पर दिनेश पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अपनी मां को इस शौक को लगाने की प्रेरणास्रोत मानने वाले दिनेश की ग़ज़लें यकीनन आपको भी आकर्षित करेंगी।

(36)

तेरे सिवा कुछ सोच न सकने वाला मैं
पल-पल तेरे ध्यान में रहने वाला मैं

मौसम के ढब लिखने-पढ़ने वाला मैं
खुद को खुद ही शाइर कहने वाला मैं

कुहरा जैसे तल्लू धुआँ हो सिगरेट का
और सहर के हाथ में जलने वाला मैं

आखिर तेरे दर पर आ कर बैठ गया
था दश्तओ-सहरा में भटकने वाला मैं

लम्हा-लम्हा रंग बदलने वाला तू
लम्हा-लम्हा जुड़ने-बिखरने वाला मैं

तेरी याद दिलाने वाली सूनी शाम
और अकेले रोने-हँसने वाला मैं

नदियाँ जा कर सागर से मिल जायेंगी
सोच यही हर वक़्त बरसने वाला मैं

(37)

रात गहरी हुई है आँसू से
शम्मा भी बुझ रही है आँसू से

मेरे अंदर जो चुप थी तन्हाई
आज कल बोलती है आँसू से

वरना सहरा न हो गया होता
मेरे घर में नमी है आँसू से

अब्र का गुम किसी ने क्या जाना
झील, दरिया, नदी है आँसू से

ये धुँआ ज़िंदगी का है यारो
मेरी सिगरेट जली है आँसू से

लफ़्ज़ में वरना कोई मानी क्या
शाइरी शाइरी है आँसू से

मैं अकेला कभी नहीं रहता
अब मिरी दोस्ती है आँसू से

(38)

जब शहर में कोई भी मिरा अपना घर न था
हाँ था मगर मैं इतना कभी दर-ब-दर न था

लड़ता रहा मैं आखिरी दम तक अंधेरे से
लेकिन निगाह में कभी ख्वाबे-सहर न था

यूँ तो हज़ारों लोग मिले मुझको राह में
उस हमसफ़र सा और कोई हमसफ़र न था

उसके बस एक लम्स से शाइर हुआ हूँ मैं
सच कह रहा हूँ मुझमें कोई भी हुनर न था

कोई भी नींद अपनी कभी ख्वाब भर न थी
कोई भी ख्वाब अपना कभी नींद भर न था

मुझको किसी निगाह ने बख़्शो हज़ार गुल
सहरा में वैसे हद्द-ए-नज़र तक शजर न था

जब दिल किया तो मैंने सफ़ीने डुबो दिए
दरिया तो शांत था कहीं उसमें भँवर न था

(39)

आँखें तुम्हारी देखना
फूलों की क्यारी देखना

छूकर उसे बोली सहर
बाद-ए-बहारी देखना

उससे मिला हूँ, पी कहां
लेकिन खुमारी देखना

सीने पे मेरे वार हो
मेरे शिकारी देखना

इक दिल पड़ा है राह पे
अपनी सवारी देखना

हैं चंद लम्हे वस्ल के
तुम पर उधारी, देखना

सीने में झरना कैद है
तुम आबशारी देखना

(40)

दबा हुआ मिरे सीने में जो ये नाला है
तमाम शहर में सैलाब लाने वाला है

भले चमक तो रहा है अभी फ़लक पर वो
मगर ये शम्स किसी रात का निवाला है

ये तेरी रौनकें हैं या है मेरा अंधापन
'अँधेरा है कि तारे शहर में उजाला है'

मुझे कभी कभी खलती नहीं तेरी जानां
गज़ल को मैंने तेरे रूप में ही ढाला है

गली में आ गया हूँ तेरी और बैठा हूँ
मिरे लिए यही मस्जिद यही शिवाला है

भला उसे भी कोई और रोग होगा क्या
तुम्हारे नाम की जपता रहा जो माला है

जो ख़्वाब तेरे बिना हो गये थे लावारिस
बना के मैंने भी औलाद उनको पाला है

सैय्यद तालीफ़ हैदर

(41)

बस एक शै मेरे अन्दर तमाम होती हुई,
मेरी हिकायत-ए जाँ सुस्त गाम होती हुई।

मैं रात अपने बदन की सदा से लड़ता हुआ
और उसकी ख़ामुशी महवए कलाम होती हुई।

ये हिरसा-ए शब हो या कोई हवाए हस्ती हो,
जो रोज़ रोज़ है यूँ बे लगाम होती हुई।

बदी बड़ी ही अदा से जहाने हस्ती में,
ख़राब होते हुये नेकनाम होती हुई।

अजीब रंग बदलती हुई मिरी दुनिया,
ब ज़ेर शाम सफ़र नील गाम होती हुई।

(42)

दर्द आमेज़ है कुछ यूँ मिरी खामोशी भी,
रास आती नहीं मुझको ये खिरद पोशी भी।

कैसी हैरत है कि एक रौ में है ज़हने दुनियाँ,
क्या तअज्जुब है कि छाती नहीं मदहोशी भी।

याद का कौन सा आलम है कि मैं मरता हूँ,
और ज़िन्दा है मेरी ख़्वाब फ़रामोशी भी।

किस की आँखों का नशा है कि मेरे होंठों को,
इस क़दर तर नहीं कर सकती बला नोशी भी।

मैं किनारा भी करूँ खुद से तो मुम्किन है कहाँ,
कि न हो तेरे तअल्लुक से हम आगोशी भी।

(43)

सवाल क्या है जवाब क्या है,
ये उज़्र ख़ाना ख़राब क्या है।

मैं अपनी हस्ती बदल रहा हूँ
ये सब हिसाबओ किताब क्या है।

तेरी मोहब्बत के नाम सब कुछ,
मेरा कोई इंतिसाब क्या है।

किनारा खुद से ही कर लिया है,
अब और हदे इज्तिनाब क्या है।

सफ़र ही बस कारण ज़िन्दगी है,
अज़ाब क्या है, सवाब क्या है।

(44)

तमाम शहर ही तेरी अदा से कायम है,
हुसूले कारगह-ए-गम दुआ से कायम है।

तसल्लुल इसके सिवा और क्या हो मिटटी का
ये इब्तिदा भी मेरी इन्तिहा से कायम है।

खुदा वुजूद में है आदमी के होने से,
और आदमी का तसल्लुल खुदा से कायम है।

तमाम जोश-ए-मोहब्बत तमाम हिरस-ओ-हवस,
वफ़ा के नाम पे हर बेवफ़ा से कायम है।

ये फ़ासला फ़क़त एक रेत की नहीं दीवार,
तेरे वुजूद से मेरी अना से कायम है।

(45)

आहिस्ता रवी शहर को काहिल न बना दे,
खामोशी-ए ग़म ख़्वाब का मायल न बना दे।

इतना भी मोहब्बत को न सोचे मेरी हस्ती,
ये मोजिज़ा-ए फ़िक्र कहीं दिल न बना दे।

ईसा नहीं फिर भी मुझे अन्देशा है खुद से
हस्ती मेरी कुछ शोबदै-ए गुल न बना दे।

इस तरह तुझे इश्क़ किया है कि ये दुनिया,
हमको ही कहीं इश्क़ का हासिल न बना दे।

मैं उससे समन्दर ही कोई माँगता लेकिन,
डर था वह कहीं फिर कोई साहिल न बना दे।

जिया जमीर

1977 में पैदा हुए ज़िया जमीर ने जब अपनी आंखे खोलीं तो अपने आपको किताबों से घिरा पाया। शाइर ज़मीर दरवेश का बेटा शाइरी के अलावा और सीखता भी क्या.....। वालिद से यह हुनर विरसे में मिला और ज़िया ने उस हुनर में कमी भी नहीं आने दी। यूँ तो वे इन्कम टैक्स और सेल्स टैक्स से जुड़े और वकालत का काम शुरू कर दिया लेकिन उनकी रूह गज़ल से ऐसी जुड़ी है कि हर वक़्त हर चीज़ में वे गज़ल का ही पहलू तलाशते हैं। अब तक उनके दो मज़्मूए शायर हो चुके हैं। 'ख़्वाब ख़्वाब लम्हें' (2010) और 'दिल मदीने में है' (2014)। ग़ालिब मीर, अहमद फ़राज़, बशीर बद्र को पसंद करने वाले ज़िया ज़मीर दुष्यंत, निराला, पंत, महादेवी वर्मा के भी उतने ही मुरीद हैं। उनकी शाइरी इंसानी तकाजों की शाइरी है। मर्द-औरत के बीच रिश्ते और बदलते वक़्त में उन रिश्तों के बीच आ रही टीस को, बिखराव को वे अपनी शाइरी का हिस्सा बनाने से नहीं चूकते।

(46)

दर्द की शाख पे इक ताज़ा समर¹ आ गया है,
किस की आमद है 'ज़िया', कौन नज़र आ गया है।

जाने किस जुर्म की पाई है सज़ा पैरों ने
इक सफ़र ख़त्म पे है अगला सफ़र आ गया है।

लहर खुद पर है पशेमान² कि उसकी ज़द में
नन्हें हाथों से बना रेत का घर आ गया है।

दर्द भी सहना, तबस्सुम भी लबों पर रखना
मरहबा इश्क़! हमें भी यह हुनर आ गया है।

उसकी आँखों में नहीं पहली सी चाहत लेकिन
यह भी क्या कम है कि वो लौट के घर आ गया है।

ज़िन्दगी रोक के अक्सर यही कहती है मुझे
तुझको जाना था किधर और किधर आ गया है।

1-फल, 2-शर्मिन्दा, 3-सीमा, रास्ता

(47)

ये जो हैं ज़ख्म, मसाफ़त¹ के ही पाले हुये हैं
बैठे-बैठे भी कहीं पाँव में छाले हुये हैं

कोई आसों है भला रिश्ते को कायम रखना
गिरती दीवार है, हम जिसको सम्भाले हुये हैं

उन को दुनिया ने हमेशा ही अँधेरे बख़्शो
लोग, वो जिनसे ज़माने में उजाले हुये हैं

दुश्मनी के लिये आमादा² पड़ोसी है मगर
एक हम ही हैं जो इस बात को टाले हुये हैं

यूँ अकड़ते हैं कि पा ली हो जहाँ की दौलत
कैसे मगरूर तिरे चाहने वाले हुये हैं

क्या ग़ज़ब है कि सिमटने लगी जब रात 'ज़िया'
तब कहीं जाके चरागों में उजाले हुये हैं

1-यात्रा, 2-आतुर

(48)

तक रहा है तू आसमान में क्या
है अभी तक किसी उड़ान में क्या

वो जो इक तुझको जाँ से प्यारा था
अब भी आता है तेरे ध्यान में क्या

हम तो तेरी कहानी लिख आये
तू ने लिखा है इम्तिहान में क्या

हो ही जाते हैं जब जुदा दोनों
फिर तअल्लुक है जिस्म-ओ-जान में क्या

क्या नहीं होगी फिर मेरी तकमील
कोई तुझ सा नहीं जहान में क्या

हम क़फ़स में हैं, उड़ने वाले बता
है वही लुत्फ़ आसमान में क्या

1-पूर्ण होना, 2-कैद, पिंजर

(49)

अगर वो ख़्वाब नये हमसफ़र के देखते हैं
तो हम भी अहद-ए-वफ़ा से मुकर के देखते हैं

न पूछ हमसे मसाफ़त¹ है किस अज़ाब का नाम
सफ़र में रहते हैं और ख़्वाब घर के देखते हैं

तुम्हारे चेहरे पे ज़ब्बों का कोई रंग नहीं,
सो इसमें ज़ब्बों के कुछ रंग भर के देखते हैं

ज़मीं के बस में नहीं है समेटना हम को
तो आसमान पे अब के बिखर के देखते हैं

अजब है उसका करिश्मा, जिधर से वो गुज़रे
गुज़रने वाले उधर से गुज़र के देखते हैं

सज़ा न जिसकी अभी तक किसी ने तय की हो
गुनाह ऐसा अछूता सा कर के देखते हैं

1-यात्रा

(50)

हमने जुनून-ए-इश्क में कुफ़्र ज़रा नहीं किया
उससे मुहब्बतें तो कीं, उसको खुदा नहीं किया

उम्र हुई कि देखकर नींद उचट, गयी थी, हाँ
आँख ने फिर कभी रक़म ख़ाब नया नहीं किया

तुझसे कहा था खुशबूएं उसके बदन की लाइयो
मेरा यह काम आज तक तू ने सबा नहीं किया

कैसे कहूँ कि दोस्ती तुमने निभाई दोस्तो
तुम ने कुरेद कर कोई ज़ख़्म हरा नहीं किया

हम सा भी इस जहान में होगा न कोई यर्ग़माल'
क़ैद से उसकी आज तक खुद को रिहा नहीं किया

सोच रखा था इश्क़ से रंग भरेंगे शेर में
दिल ने मगर नहीं किया, इश्क़ 'ज़िया' नहीं किया

इरशाद खान सिकन्दर

आज की दुनिया में कोई शाइर यह दावा करे कि उसने किसी स्कूल या डिग्री कॉलेज से तालीम नहीं ली तो यह अजीब सा लगेगा....मगर इरशाद खान 'सिकन्दर' के बारे में यही सच है। उन्होंने किसी स्कूल से कोई शिक्षा नहीं ली, अभी तक वे ठीक तरीके से दसवीं पास होने का दावा भी नहीं कर सकते। उनकी सारी पढ़ाई फुटकर हुई है जब हालात ने मौक़ा दिया पढ़ लिया जब वक्त मुश्किल हुआ तो कुछ और कर निकले। "मसि कागद छुयौ नहिं....." वाली कहावत पर अमल करते हुये वे आगे बढ़ रहे हैं और उनके साथ ऐसा हो भी क्यों ना, वो हैं भी तो संत कबीर नगर के। वे स्वयं को इस इलाके के शाइरों की जमात में 'इकलौता पौधा' मानते हैं। नामालूम यह कितना सच है मगर यह ज़रूर सच है कि वे नयी नस्ल के सबसे सब्ज़ और लहलहाते हुए पौधे हैं। फिलहाल हिन्दी, भोजपुरी फिल्मों में गीत लेखन का काम जारी है। उनके उस्ताद तुफ़ैल चतुर्वेदी कहते हैं कि...है"।

(51)

बहुत चुप हूँ कि हूँ चौंका हुआ मैं
ज़मीं पर आ गिरा उड़ता हुआ मैं

बदन से जान तो जा ही चुकी थी
किसी ने छू लिया ज़िन्दा हुआ मैं

न जाने लफ़्ज़ किस दुनिया में खो गये
तुम्हारे सामने गूंगा हुआ मैं

भँवर में छोड़ आये थे मुझे तुम
किनारे आ लगा बहता हुआ मैं

बज़ाहिर दिख रहा हूँ तन्हा तन्हा
किसी के साथ हूँ बिछड़ा हुआ मैं

चला आया हूँ सहाराओं की जानिब
तुम्हारे ध्यान में डूबा हुआ मैं

अब अपने आपको खुद ढूँढता हूँ
तुम्हारी खोज में निकला हुआ मैं

(52)

आँखों की दहलीज़ पे आकर बैठ गयी
तेरी सूरत ख़्वाब सजाकर बैठ गयी

कल तेरी तस्वीर मुकम्मल की मैंने
फ़ौरन उस पर तितली आकर बैठ गयी

ताना-बाना बुनते-बुनते हम उधड़े
हसरत फिर थककर ग़श खाकर बैठ गयी

खोज रहा है आज भी वो गूलर का फूल
दुनिया तो अफ़वाह उड़ाकर बैठ गयी

रोने की तरकीब हमारे आयी काम
ग़म की मिट्टी पानी पाकर बैठ गयी

वो भी लड़ते-लड़ते जग से हार गया
चाहत भी घर-बार लुटाकर बैठ गयी

बूढ़ी माँ का शायद लौट आया बचपन
गुड़ियों का अम्बार लगाकर बैठ गयी

(53)

मैं उसकी बात करता हूँ तो लहजा भीग जाता है
अगर खामोश हो जाऊँ तो, चेहरा भीग जाता है

यही दिन थे कि उससे मिलके कलियाँ खिलने लगतीं थीं
यही दिन हैं कि आँखों का किनारा भीग जाता है

हमीं सूरज की हर मेहनत पे पानी फेर देते हैं
हमारे रू-ब-रू होते ही सहारा भीग जाता है

छतें कितनी भिगोई होंगी तूने ऐ मेरे बादल
तुझे क्या इल्म कब इक बन्द कमरा भीग जाता है?

वो मुझसे पूछते हैं क्या नया है इस कहानी में
कोई मीरा तड़पती है तो कान्हा भीग जाता है

लिपटना उसका परदे से मेरा कहना खुदा हाफिज़
उसी पल देखता हूँ सारा परदा भीग जाता है

मेरे माज़ी की अलमारी से कुछ ऐसे भी ख़त निकले
जिन्हें छू लूँ नज़र भर तो लिफ़ाफ़ा भीग जाता है

(54)

छाँव, अफ़सोस! दायमी न रही
धूप का क्या? रही, रही, न रही

आसरा छिन गया है जीने का
आस थी जो, रही-सही न रही

हो गया ख़्वाब, फूल सा चेहरा
शाख़े-दिल भी, हरी-भरी न रही

बह गये आँसुओं के दरिया में
आपकी बात, याद ही न रही

इक उदासी थी, रात थी, हम थे
और फिर हाजत-ए-खुशी न रही

मशवरा जस का तस रहा लेकिन
मशवरों की कभी कमी न रही

वाक़ेआ जो हुआ, हुआ लेकिन
दास्तौँ आपसे जुड़ी न रही

(55)

दुनिया के दौंव-पेंच में उलझा हुआ बदन
हम हैं कहीं तो है कहीं रक्खा हुआ बदन

इक भूली याद सुबह की घर लौटी शाम को
काम आया आखिरश यही टूटा हुआ बदन

दो-चार लफ़्ज़ में उसे कैसे समेटें हम
देखा है आज हमने वो बिखरा हुआ बदन

ऊँची इमारतों की बिना डालता रहा
गुरबत के भारी बोझ से दोहरा हुआ बदन

गंगा में डुबकियों से अजी खाक होगा पाक
दिन दूना रात चौगुना मैला हुआ बदन

एहसास जगमगाए खयालों के नूर से
देखा जो रात चाँद का खिलता हुआ बदन

आँखों में तैरता रहा अशकों के साथ-साथ
शब भर तिरा चराग़ सा जलता हुआ बदन

मनोज अज़हर

मुरादाबाद से ताल्लुक रखने वाले मनोज अज़हर की पैदाइश 1978 की है। उनके ज़ौको-सफ़र के बारे में कहा जा सकता है कि पहले उन्होंने हिन्दी में कविता लिखना शुरू किया जो बाद में वक़्त के साथ उर्दू ग़ज़ल में तब्दील हो गया। अंग्रेज़ी में पोस्टग्रेजुएशन करने के बाद एजुकेशन की गोद में जा बैठे। फ़िलवक़्त वे एक कोचिंग इन्स्टीट्यूट चला रहे हैं, मंज़िलें कुछ और भी है। मंसूर उस्मानी, अक़ील नोमानी जैसे शाइरों की संगत में ग़ज़ल को तराशने का मौक़ा मिला। जॉन एलिया, अहमद फ़राज़ और राहत इन्दौरी को पढ़ने वाले मनोज को ग़ज़ल कहना बेहद पसंद है।

(56)

तेरी मन्नत में था लेकिन मिला नई!
मैं फिर इंसान हूँ.....कोई खुदा नई!!

तलाश-ए-जात में निकला था इक दिन,
उसी दिन सेमेरा कोई पता नई!

तुम्हारे काम की होगी....ये दुनिया,
यहाँ.....कुछ भी हमारे काम का नई!

कोई उसकी खबर हो तोसुनाओ,
मेरा.....हालांकि उस से वास्ता नई!

मुझे ...खुद से..... तेरी बू आ रही है,
तो क्या मुझमें मिरा कुछ भी बचा नई!

(तलाश-ए-जात=खुदा की तलाश)

(57)

मौत की झोली में...अब तक की उदासी डाल दें.....?
या अभी...अच्छे दिनों की बात कहकर... टाल दें...?

ऐ वफ़ा...! इस चाक-दामानी से मत उम्मीद रख,
चाहते हम भी थे.....तुझको रेशमी रूमाल दें!

मेरी मुश्किल ये कि....में इक मोम का पुतला नहीं,
उनको ये ज़िद है.....मुझे सांचे में अपने ढाल दें!

रूह.....कब तक जिस्म के इस बोझ को ढोती फिरे,
जी में आता है किइस मिट्टी पे मिट्टी डाल दें

वक्रत तू सुधरे तो हम कुछ और मोहलत दें तुझे
ये बता दें और कितने दिन महीने साल दें।

(चाक-दामानी=फटा हुआ दामन)

(58)

रात.....साये से भी झगड़ा कर लिया!
खुद को बिल्कुल ही अकेला कर लिया!!

एक बस.....तेरी तवज्जो के लिए,
हमने खुद को ही तमाशा कर लिया!

साथ.....अब तो जिस्म भर का साथ है,
दिल ने कबका खुद को तन्हा कर लिया!

हाथ मलते रह गए.....सारे भँवर,
और कश्ती ने.....किनारा कर लिया!

रातबेसुध होके सोएगी यहाँ,
इसलिए.....सूरज ने पर्दा कर लिया!

(59)

यूँ हँसकर बात करना हर किसी से,
बहुत मायूस हो क्या ज़िन्दगी से....?

मेरी आँखों में....आँखें डाल देना,
कभी जो ऊब जाऊँ ज़िन्दगी से!

न जाने कितनी नदियाँ पी चुका है,
समंदर....अब तो बाज़ आ तश्नगी से!

ये इक दिन मौत से सौदा करेगी,
ज़रा....होशियार रहना ज़िन्दगी से!

अँधेरी रात....और यादों का जंगल,
उसे ढूँढो यहाँ....आवाज़ ही से!

कहीं....कुछ जानवर ये कह रहे थे,
तवक्को ये नहीं थी आदमी से!

(तवक्को=उम्मीद)

(60)

काँच के ही सही....कुछ ख़्वाब तो पाले जायें!
दिल के हालात ब'हरहाल.....संभाले जायें!!

सीपियों सी तिरी पलकें भी तो खुलती होंगी,
क्यूँ कहीं जाके.....समंदर ही खंगाले जायें!

बच के जाएंगे कहाँ यूँ भी तिरे सादा मिज़ाज,
और इस जुल्फ़ में अब पेच न डाले जायें!

नींद ऐसी...कि मेरे ख़्वाब हों धज्जी-धज्जी,
ख़्वाब ऐसे.....कि मेरी नींद उड़ा ले जायें!

जिस्म भी क्यूँ न बिछा जायें तेरे कूचे में....
खाक है... खाक को अब साथ में क्या ले जायें!

अभिषेक शुक्ला

1987 में उ.प्र. के बस्ती में जन्मे अभिषेक शुक्ला भी जदीदतर शाइरों की जमात में सबसे रौशन सितारे हैं। पहले हिन्दी कवि सम्मेलनों में गए, उर्दू स्टेज पर जाने का मौका मिला तो उर्दू शाइरी से तार जोड़ बैठे। लखनऊ में रहते हुए, भारत भूषण पंत, खुशवीर सिंह 'शाद' और मनीष शुक्ला की सोहबत का असर रहा कि उनकी शाइरी वक़्त के साथ मैच्यौर होती चली गयी। मात्र 26, 27 साल की उम्र में उनकी शायरी 'मैच्यौरिटी' के उस लेवल को छूती है जिसे पाने के लिए लम्बी उम्र जीनी पड़ती है। क्लासिकल शाइरों को पढ़ने के साथ-साथ वे जदीद शाइरों के कलाम का भी लुत्फ़ उठाते हैं। जनाब फ़रहत एहसास के वे बड़े मुरीद हैं। फ़िलहाल बैंक की नौकरी के साथ अदब की दुनिया में स्थापित होने की कश्मकश जारी है। कई इण्टर नेशनल मुशायरों में अपनी धाक जमा चुके हैं। अभी तक कोई मज्मुआ शायी नहीं हुआ है। शाइरी अपना मुस्तकबिल इस शाइर में तलाश ले तो ग़लत नहीं होगा।

(61)

मैं खिरदमंद रहूँ या तिरा वहशी हो जाऊँ
जो भी होना है मुझे इश्क़ में जल्दी हो जाऊँ

ज़िन्दगी चाक की गर्दिश के सिवा कुछ भी नहीं
मैं अगर कूज़ागरी छोड़ दूँ मिट्टी हो जाऊँ

फिर से ले जाए मेरी ज़ात से तू इश्क़ उधार
और मैं फिर से तेरे हुस्न पे बाकी हो जाऊँ

कोई दम तू मेरे चेहरे पे खुशी बनके उभर,
कोई दम मैं तेरे चेहरे की उदासी हो जाऊँ

या तो दरिया में बदल जाऊँ कि लहरें उठें
या बगूलों का कहा मान लूँ आँधी हो जाऊँ

उसकी जानिब से कोई हिज़्र मुझे आ के लगे
और मैं मार्का-ए-इश्क़ में जख्मी हो जाऊँ

जब्र की तरह कोई जब्र करूँ अपने साथ
क्यों न कुछ देर को मैं अपने पे हावी हो जाऊँ

(62)

गर्द-ए-शब गर्द-ए-सहर मैंने उड़ाई है बहुत
वो मुसाफिर हूँ जिसे आबलापाई है बहुत

किसको है ताब यहाँ तुझसे दुबारा बिछड़े
ज़िन्दगी भर के लिए एक जुदाई है बहुत

इक तसव्वुर ही लुटा दूँ तो यह दुनियाँ मिल जाये
इन दिनों ज़ेहन-ए-परेशाँ की कमाई है बहुत

मैं बज़िद था के वस अब कुछ न सुनूंगा वरना
शब भर आवाज़ सी आवाज़ तो आई है बहुत

न हुआ मैं तो वो किस दर्जा परेशाँ होगा
मेरे होने की ख़बर जिसने उड़ाई है बहुत

उसके आगे न तो ग़ालिब की चली है न मिरी
जब कि हम दोनों ही ने 'बात बनाई है' बहुत

(63)

वहशतें हद से जियादा भी हर्मीं रखते हैं,
दिल ए वहशी तुझे सीधा भी हर्मीं रखते हैं

आईने टूट के मिलते हैं हर्मीं से यानी
इस भरे शहर में चेहरा भी हर्मीं रखते हैं

ये जो गलियों में तेरी खाक बने फिरते हैं हम
सच बतायें तो यह सौदा भी हर्मीं रखते हैं

जान देने पे उतारू हैं हर इक लम्हा हर्मीं
खुद को हर हाल में ज़िन्दा भी हर्मीं रखते हैं

पहले रखते हैं कड़ी धूप पे हम धूप की सिल
और फिर साये पे साया भी हर्मीं रखते हैं

हम से ले जाओ ये तन्हाई बड़े काम की है
खैर रखने को तो दुनिया भी हर्मीं रखते हैं

जी में आता है के बिक जायें किसी रोज़ मगर
खुद को बाज़ार में मँहगा भी हर्मीं रखते हैं

(64)

अपनी जैसी ही किसी शक्त में ढालेंगे तुम्हें
हम बिगड़ जायेंगे इतना कि बना लेंगे तुम्हें

अपनी आँखों में धुँआं करके तो मुश्किल होगी
अपने सीने पे बहरहाल बुझा लेंगे तुम्हें

मुझमें पैवस्त हो तुम यूँ कि ज़माने वाले
मेरी मिट्टी से मेरे बाद निकालेंगे तुम्हें

फ़ैसला कर ही लिया हमने अगर मिटने का
कासा-ए-जिस्म में थोड़ा सा बचा लेंगे तुम्हें

जाने क्या कुछ हो छुपा तुममें मोहब्बत के सिवा
हम तसल्ली के लिए फिर से खंगालेंगे तुम्हें

ये ज़मीं कुछ भी नहीं और ये जहाँ कुछ भी नहीं
हम अगर चाहें तो इक जस्त में जा लेंगे तुम्हें

हमने सोचा है कि इस बार जुनूँ करते हुए
खुद को इस तरह से खो देंगे कि पा लेंगे तुम्हें

(65)

अभी तो आप ही हाइल है रास्ता शब का
करीब आये तो देखेगे हौसला शब का

चली तो आयी थी कुछ दूर साथ साथ मिरे
फिर उसके बाद खुदा जाने क्या हुआ शब का

मेरे ख्याल के वहशत कदे में आते ही
जुनू की नोक से फूटा है आबला शब का

सहर की पहली किरन ने उसे बिखेर दिया
मुझे समेटने आया था जब खुदा शब का

जमीं पे आके सितारों ने यह कहा मुझसे
तेरे करीब से गुजरेगा क्राफ़िला शब का

सहर का लम्स मिरी ज़िन्दगी बढ़ा देता
मगर गराँ था बहुत मुझपे काटना शब का

सिराज फ़ैसल ख़ान

1991 की पैदाइश वाले युवा शाइर सिराज फ़ैसल ख़ान शाहजहाँपुर ज़िले से ताल्लुक़ रखते हैं। बी.एस.सी. बायो एवं बी.एड. करने के बाद फ़िलहाल कम्पटीशन की तैयारी कर रहे हैं। इनके ख़ानदान में शाइरी का कोई माहौल नहीं है फिर भी जगजीत सिंह की गज़लें सुनते-सुनते गज़ल के दामन को थाम लिया। इनके वालिद शाहजहाँपुर में ही संग्रह अमीन के पद पर कार्यरत हैं। इनका कोई मज्मुआ अभी तक मन्ज़ूर-ए आम पर नहीं आया है। यह मयंक अवस्थी से गाहे बगाहे इस्लाह भी लेते रहते हैं, राहत, बशीर बद्र, शकेब जलाली को पढ़ना पसंद करते हैं।

(66)

तेरे एहसास में डूबा हुआ मैं
कभी सहरा कभी दरिया हुआ मैं

तिरी नज़रें टिकी थीं आसमाँ पर
तिरे दामन से था लिपटा हुआ मैं

खुली आँखों से भी सोया हूँ अक्सर
तुम्हारा रास्ता तकता हुआ मैं

खुदा जाने के दलदल में ग़मों के
कहाँ तक जाऊँगा धँसता हुआ मैं

बहुत पुरख़ार थी राह-ए मुहब्बत
चला आया मगर हँसता हुआ मैं

कई दिन बाद उसने गुफ़्तगू की
कई दिन बाद फिर अच्छा हुआ मैं

(67)

मुल्क को तक्सीम कर के क्या मिला है
अब भी जारी नफ़रतों का सिलसिला है

क्यों झगड़ते हैं सियासी चाल पर हम
मुझको हर हिन्दोस्तानी से गिला है

दी है कुर्बानी शहीदों ने हमारे
मुल्क तोहफ़े में हमें थोड़ी मिला है

हुक्मरानों ने चली है चाल ऐसी
आम लोगों के दिलों में फ़ासिला है

अब नज़र आता नहीं कोई मुहाफ़िज़
हाँ, लुटेरों का मगर इक क़ाफ़िला है

लुट रहा है मुल्क अब अपनों के हाथों
सोचिये आज़ाद होकर क्या मिला है।

(68)

कोई टोपी तो कोई अपनी पगड़ी बेच देता है
मिले गर भाव अच्छा जज भी कुर्सी बेच देता है

तवाइफ़ फिर भी अच्छी है कि वो सीमित है कोठे तक
पुलिस वाला तो चौराहे पे वर्दी बेच देता है

जला दी जाती है ससुराल में अक्सर वही बेटी
कि जिस बेटी की खातिर बाप किडनी बेच देता है

कोई मासूम लड़की प्यार में कुर्बान है जिस पर
बनाकर वीडियो उसकी वो प्रेमी बेच देता है

ये कलयुग है कोई भी चीज़ नामुम्किन नहीं इसमें
कली, फल, पेड़, पौधे, फूल माली बेच देता है

उसे इंसान क्या हैवान कहने में भी शर्म आए
जो पैसों के लिए अपनी ही बेटी बेच देता है

चमन में जब से ये गन्दी हवा आयी है मगरिब से
मेरा हर फूल अब साँपों को तितली बेच देता है

(69)

नज़र से दूर रहे या नज़र के पास रहे
हमेशा इश्क़ के मौसम बहुत ही खास रहे

मैं तेरे ज़िक्र की वादी में सैर करता रहूँ
हमेशा लब पे तेरे नाम की मिठास रहे

वो रू-ब-रू थे तो आँखों से दौर चल निकले
खुली न बोलें, ख़ाली सभी गिलास रहे

ये बात राज़ की, दादी ने हमको बतलायी
हमारी उम्र में अब्बा भी देवदास रहे

मैं कहकशाओं में खुशियाँ तलाशने निकला
मिरे सितारे मिरा चाँद सब उदास रहे

मैं मुन्तज़िर हूँ किसी ऐसे वस्ल का जिसमें
मिरे बदन पे तारे जिस्म का लिबास रहे

तिरी हयात से जुड़ जाऊँ वाक़या बनकर
तिरी किताब में मेरा भी इक़्तिबास रहे

(70)

घोटाले करने की प्यारे दिल्ली को बीमारी है
रपट लिखाने मत जाना तुम ये धन्धा सरकारी है

बीच खड़े हो कर लाशों के इक बच्चे ने ये पूछा
मज़हब किस को कहते हैं, ये क्या कोई बीमारी है

तुमको पत्थर मारेंगे सब, रुस्वा तुम हो जाओगे
मुझसे मिलने मत आओ तुम मुझ पर फ़तवा जारी है

हिन्दू मुस्लिम सिक्ख ईसाई आपस में सब भाई हैं
इस चक्कर में मत पड़िएगा ये दावा अख़बारी है

नया विधेयक लाओ अब के बूढ़े सब आराम करें
देश युवाओं को दे दो अब नये खून की बारी है

जीना है तो झूठ भी बोलो, घुमा-फिराकर बात करो
केवल सच्ची बातें करना भी शायद बीमारी है

गौतम राजरिशी

पचहत्तर की पैदाइश वाले गौतम राजरिशी को पढ़िए तो आपको हैरानी होगी। एक दम नये लहजे....नयी जुबान का शाइर। हिन्दी, उर्दू की रवानगी अंग्रेज़ी के लोकप्रिय शब्दों के साथ किस तरह जुगलबंदी करती है यह राजरिशी की शाइरी में साफ़ दिखता है। नावेल, शावर, टॉवल, सिगरेट, गिटार जैसे अल्फ़ाज़ों से वे किसी फुटबाल खिलाड़ी की तरह अठखेलियां करते हैं। फ़ौज की नौकरी और इस नौकरी का भी बड़ा हिस्सा कश्मीर की वादियों में गुज़ारने के बीच जब भी वक़्त मिला तो इस जांबाज़ अधिकारी ने यादों की पोटली खोली और लफ़्ज़ों की गाँठें बना लीं जिसे ग़ज़ल का रूप मिल गया। अहमद फ़राज़ को अपना महबूब शायर मानने वाले गौतम को ग़ज़ल सुनने का शौक अपने वालिद से मिला जो डाक्टर होते हुए भी मेंहदी हसन और गुलाम अली को सुनते थे। अभी तक गौतम का कोई मज्मुआ शाए नहीं हुआ है, लेकिन इस बरस उम्मीद है कि उनका मज्मुआ शाए हो। फिलहाल गौतम की ग़ज़लियात का मज़ा लीजिए.....।

(71)

बात रुक-रुक कर बढ़ी, फिर हिचकियों में आ गई
फोन पर जो हो न पायी, चिट्ठियों में आ गई

सुबह दो ख़ामोशियों को चाय पीते देख कर
गुनगुनी-सी धूप उतरी, प्यालियों में आ गई

ट्रेन ओझल हो गई, इक हाथ हिलता रह गया
वक्त-ए-रुखसत की उदासी चूड़ियों में आ गई

अधखुली रक्खी रही यूँ ही वो नावेल गोद में
उठ के पन्नों से कहानी सिसकियों में आ गई

चार दिन होने को आये, कॉल इक आया नहीं
चुप्पी मोबाइल की अब बेचैनियों में आ गई

बाट जोहे थक गई छत पर खड़ी जब दोपहर
शाम की चादर लपेटे खिड़कियों में आ गई

रात ने यादों की माचिस से निकाली तीलियाँ
और इक सिगरेट सुलगी, उँगलियों में आ गई

(72)

अइस ली तू ने जब साड़ी में गुच्छी चाभियों वाली
हुई ये जिंदगी इक चाय ताज़ी चुस्कियों वाली

कहाँ वो लुत्फ़ शहरों में भला डामर की सड़कों पर
मज़ा देती है जो घाटी कोई पगडंडियों वाली

भरे-पूरे से घर में तब से ही तन्हा हुआ हूँ मैं
गुमी है पोटली जब से पुरानी चिट्ठियों वाली

बरस बीते गली छोड़े, मगर है याद वो अब भी
जो इक दीवार थी कोने में नीली खिड़कियों वाली

खिली-सी धूप में भी बज उठी बरसात की रुन-झुन
उड़ी जब ओढ़नी वो छोटी-छोटी घंटियों वाली

दुआओं का हमारी हाल होता है सदा ऐसा
कि जैसे लापता फ़ाइल हो कोई अर्जियों वाली

बहुत दिन हो चुके रंगीनियों में शहर की 'गौतम'
चलो, चल कर चखें फिर धूल वो रणभूमियों वाली

(73)

उजली उजली बर्फ़ के नीचे पत्थर नीला नीला है
तेरी यादों में ये सर्द दिसम्बर नीला नीला है
दिन की रंगत खैर गुज़र जाती है बिन तेरे, लेकिन
कत्थई-कत्थई रातों का हर मंज़र नीला नीला है
दूर उधर खिड़की पे बैठी सोच रही हो मुझको क्या
चाँद इधर छत पर आया है, थक कर नीला नीला है
तेरी नीली चुनरी ने क्या हाल किया बागीचे का
नारंगी फूलों वाला गुलमोहर नीला नीला है
बादल के पीछे का सच अब खोला तेरी आँखों ने
तू जो निहारे रोज़ इसे तो अम्बर नीला नीला है
हुस्न भले हो रौशन तेरा लाल-गुलाबी रंग लिये
इश्क़ का तेरे परतौ लेकिन दिल का नीला नीला है
इक तो तू भी साथ नहीं है, ऊपर से यह बारिश उफ़
घर तो घर, सारा-का-सारा दफ़्तर नीला नीला है
महफ़िल-महफ़िल शोर उठा है, मजलिस-मजलिस हंगामा
नीली ग़ज़ल इक लेकर आया शाइर नीला नीला है

(74)

चीड़ के जंगल खड़े थे देखते लाचार से
गोलियाँ चलती रहीं इस पार से उस पार से

मिट गया इक नौजवाँ कल फिर वतन के वास्ते
चीख तक उट्ठी नहीं इक भी किसी अखबार से

कितने दिन बीते कि हूँ मुस्तैद सरहद पर इधर
बाट जोहे है उधर माँ पिछले ही त्योहार से

अब शहीदों की चिताओं पर न मेले लगते हैं
है कहाँ फुरसत ज़रा भी लोगों को घर-बार से

मुट्ठियाँ भींचे हुये कितने दशक बीतेंगे और
क्या सुलझता है कोई मुद्दा कभी हथियार से

मूर्तियाँ बन रह गये वो चौक पर, चौराहे पर
खींच लाये थे जो किशती मुल्क की मझधार से

बैठता हूँ जब भी “गौतम” दुश्मनों की घात में
रात भर आवाज़ देता है कोई उस पार से

(75)

बहो, अब ऐ हवा ! ऐसे कि ये मौसम सुलग उट्टे
ज़मीं और आस्माँ वाला हर इक परचम सुलग उट्टे
सुलग उट्टे ज़रा-सा और ये, कुछ और ये सूरज
सितारों की धधक में चाँदनी पूनम सुलग उट्टे
लगाओ आग अब बरसात की बूँदों में थोड़ी-सी
जलाओ रात की परतें, ज़रा शबनम सुलग उट्टे
उतर आओ हिमालय से पिघल कर बर्फ ऐ! सारी
मचे तूफ़ान यूँ गंगो-जमन, झेलम सुलग उट्टे
झिंझोड़ो सब को, गहरी नींद में सोये हुये हैं जो
कि अलसाया हुआ मदहोश ये आलम सुलग उट्टे
हटा दो पट्टियाँ सारी, सभी ज़ख्मों को रिसने दो
कुरेदो टीस को इतना कि अब मरहम सुलग उट्टे
मचलने दो धुनों को कुछ, कसो हर तार थोड़ा और
सुने जो चीख़ हर आलाप की, सरगम सुलग उट्टे
मचाओ शोर ऐ ख़ामोश बरगद की भली शाखों
है बैठा ध्यान में जो लीन, वो “गौतम” सुलग उट्टे

बृजेश अम्बर

‘पूत के पांव पालने में’ वाली कहावत चरितार्थ करते हुये बृजेश अम्बर अदब की पथरीली राहों में जिस तरह चहल कदमी कर रहे हैं उससे उनकी आमद का संदेशा तो मिलता ही है, कल की खुशनुमा उम्मीद भी बँधती है। 1975 में जन्मे बृजेश अम्बर को यह जौक विरसे में मिला। जिसके वालिद शीन काफ़ निज़ाम हों तो उसे शाइरी का शौक होना लाज़िमी है। साइंस ग्रेजुएट होने के बाद टेक्सटाइल कैमिस्ट्री में डिप्लोमा, प्रबंधन की डिग्री, बैंक में नौकरी.....मगर सब कुछ एक तरफ़, शाइरी एक तरफ़। अभी तक उनका कोई मज्मुआ तो शाए नहीं हुआ मगर मुख्तलिफ़ रिसालों में फुटकर गज़लें ज़रूर शाए होती रही हैं। राजस्थान पत्रिका का युवा सृजनात्मक साहित्य पुरस्कार उन्हें मिल चुका है। अभी उन्हें कई मंज़िलें तय करनी हैं फ़िलहाल उनके शेरी सफ़र का एक नज़ारा मुलाहिज़ा कीजिये...।

(76)

आस्माँ है समंदर पे छाया हुआ
इसलिये रंग पानी का नीला हुआ

वक्त्र नद्दी की मानिंद बहता रहा
और इक पल है सदियों से ठहरा हुआ

था कोई तो जो दहलीज़ पर धर गया
रात जलती हुई दिन दहकता हुआ

गुमशुदा शहर में ढूँढ़ता हूँ किसे
एक-इक शक्ति को याद करता हुआ

धूप और लू भरी थीं फ़ज़ाएं मगर
उस की यादों का मौसम था भीगा हुआ

जिस ने चाहा नहीं उस ने पाया नहीं
हम ने चाहा जिसे वो हमारा हुआ

धूप जंगल में फिर खो गया है कोई
चांद-तारों को आवाज़ देता हुआ

(77)

क्यूँ कहता है धूप से चेहरा जलता है
कब मेरे कहने से सूरज ढलता है

धीरे-धीरे रात का आंचल ढलता है
लम्हा-लम्हा खौफ़ का ख़दशा बढ़ता है

रजनीगंधा महक रही है कमरे में
गलियों-गलियों चाँद अकेला फिरता है

वस्ल की रुत हो या मौसम हो फुरक़त का
अन्दर-बाहर एक ही मंज़र रहता है

सूरज को भी साया देने की धुन में
एक परिंदा पेड़ पे उलटा लटका है

पीछे खींच रहा है अम्बर तो कोई
आगे-आगे हाथ बढ़ाता रहता है

(78)

दिल का हर ज़ख्म आजमाने को
देख लूँ मुड़ के आशियाने को

लोग रहते हैं इस ज़माने में
याद करते हैं उस ज़माने को

जो शनावर हैं वो रहें बाहर
इश्क़ कहते हैं डूब जाने को

हम को फुर्सत ही कुछ नहीं वरना
मुंतज़िर थी बहार आने को

मिस्ते-ए-आग़ोश हो गया दरिया
जब भी आया कोई नहाने को

(79)

शोर मचाता है दिन भर
शहर हुआ है चिड़ियाघर

रस्ता रोक रहे बिस्तर
नींद ने छोड़ा आँख का घर

दिन में क्यूँ खो जाते हैं
ख्वाब के सब अच्छे मंज़र

ये तेरा ही चेहरा है
आईने से इतना डर

भीड़ से भागे फिरते थे
खुश तो हो तन्हा हो कर

कितने बोझिल हैं दिन-रात
हल्की-फुल्की बातें कर

ग़म से कौन कहे अम्बर
अपना कमरा ख़ाली कर

(80)

सुलगती रेत का हर ज़रा आब-सा चमका
उदास आँखों में जीने का हौसला चमका

अँधेरी रात में ये किस का नक्श-ए-पा चमका
मुसाफ़िरों की निगाहों से रास्ता चमका

फ़जा में फैल गये कितने याद के जुगनूँ
दयार-ए-शौक़ में जब कोई रतजगा चमका

बिखर रही है ख़यालों में ख़्वाब की खुशबू
वुजूद बन के कहाँ कोई खुश अदा चमका

खड़ा था मैं तो हज़ारों की भीड़ में अम्बर
मुझी पे किसलिये आ कर वो दायरा चमका

‘सज्जन’ धर्मेन्द्र

आम आदमी के दर्द को अपनी ग़ज़ल में आवाज़ देने के हिमायती धर्मेन्द्र कुमार ‘सज्जन’ वर्तमान में एन.टी.पी.सी. की कोलडैम परियोजना में सिविल मैनेजर के पद पर कार्यरत हैं। 1979 में जन्मे धर्मेन्द्र का तख़ल्लुस ‘सज्जन’ है, उनका तख़ल्लुस उनके नाम ही नहीं उनके व्यक्तित्व की भी पहचान है। कविताकोश पर उनकी सक्रियता के चलते उन्हें कविताकोश योगदानकर्ता सम्मान मिला। इन्टरनेट एवं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं का निरंतर प्रकाशन होता रहता है। इन्टरनेट हिन्दी साहित्य में उनकी शिनाख़्त एक महत्वपूर्ण युवा हस्ताक्षर की है। अंजुमन प्रकाशन इलाहाबाद से उनका पहला ग़ज़ल संग्रह ‘ग़ज़ल कहनी पड़ेगी झुगियों पर’ प्रकाशित हुआ है। ‘परो को खोलते हुये’ में भी उनकी पहचान एक युवा रचनाकार की हैसियत से की गयी है।

(81)

मिलजुल के जब कतार में चलती हैं चींटियाँ
महलों को ज़ोर शोर से खलती हैं चींटियाँ

मौका मिले तो लॉघ ये जाएँ पहाड़ भी
तीखी ढलान पर न फिसलती हैं चींटियाँ

आँचल न माँ का सर पे न साया है बाप का
जीवन की तेज़ धूप में पलती हैं चींटियाँ

चलना सँभल के राह में, जाएँ न ये कुचल,
खाने कमाने रोज़ निकलती हैं चींटियाँ

शायद कहीं मिठास है मुझमें बची हुई
अक्सर मिरे बदन पे टहलती हैं चींटियाँ

(82)

गज़ल कहनी पड़ेगी झुग्गियों पर कारखानों पर
ये फ़न वरना मिलेगा जल्द रद्दी की दुकानों पर

कलम कहता रहा संभावना सब पर बराबर है
हमेशा बिजलियाँ गिरती रहीं कच्चे मकानों पर

लड़ाकू जेट उड़ाये खूब हमने रात दिन लेकिन
कभी पहरा लगा पाये न गिद्धों की उड़ानों पर

सभी का हक़ है जंगल पे कहा खरगोश ने जबसे
तभी से शेर, चीते, लोमड़ी बैठे मचानों पर

कहा सबने बनेगा एक दिन ये देश नंबर वन
नतीजा देखकर मुझको हँसी आई रुझानों पर

(83)

दे दी अपनी जान किसी ने धान उगाने में
मज़ा न आया साहब को बिरयानी खाने में

खाओ जी भर लेकिन यूँ तो मत बर्बाद करो
एक लहू की बूँद जली है हर इक दाने में

पल भर के गुस्से से सारी बात बिगड़ जाती
सदियाँ लग जाती हैं बिगड़ी बात बनाने में

उनसे नज़रें टकराईं तो जो नुकसान हुआ
आँसू भरता रहता हूँ उसके हरजाने में

अपने हाथों वो देते हैं सुबहओ शाम दवा
क्या रक्खा है 'सज्जन' अब अच्छा हो जाने में

(84)

पानी का सारा गुस्सा जब पी जाता है बाँध
दरिया को बाँहों में लेकर बतियाता है बाँध

नदी चीर देती चट्टानों का सीना लेकिन
बाँध जाती जब दिल माटी का दिखलाता है बाँध

पत्थर सा तन, मिट्टी सा दिल, मन हो पानी सा
तब जनता के हित में कोई बन पाता है बाँध

जन्म, बचपना, यौवन इसका देखा इसीलिए
सपनों में अक्सर मुझसे मिलने आता है बाँध

मरते दम तक साथ नदी का देता है तू भी
तेरी मेरी मिट्टी का कोई नाता है बाँध

(85)

है मरना डूब के, मेरा मुकद्दर, भूल जाता हूँ
तेरी आँखों में सागर है ये अक्सर भूल जाता हूँ

ये दफ़्तर जादुई है या मेरी कुर्सी नशीली है
मैं हूँ जनता का एक अदना सा नौकर भूल जाता हूँ

हमारे प्यार में इतना तो नशशा अब भी बाकी है
पहुँचकर घर के दरवाज़े पे दफ़्तर भूल जाता हूँ

तुझे भी भूल जाऊँ ऐ खुदा तो माफ़ कर देना
मैं सब कुछ तोतली आवाज़ सुनकर भूल जाता हूँ

न जीता हूँ न मरता हूँ तेरी आदत लगी ऐसी
दवा हो ज़हर हो दोनों में लाकर भूल जाता हूँ

विपुल कुमार

1993 की पैदाइश वाले विपुल कुमार यूँ तो इंजीनियरिंग में ग्रेजुएशन कर रहे हैं लेकिन ग़ज़ल का अन्दाज़ उन्हें इस क़दर भाता है कि वे एक अदबी सोच वाले आदमी ज़्यादा लगते हैं बनिस्बत एक टेक्नोक्रेट के। राजस्थान के श्री गंगानगर के रहने वाले विपुल ने ग़ज़ल लिखने की शुरूआत अपने स्कूली दिनों से की। वे मानते हैं इज़हारे ख़्याल का सबसे बढ़िया ज़रिया ग़ज़ल ही है। दीगर शाइरों की तरह वे भी ग़ालिब और फ़ैज़ के दीवाने हैं। अहमद फ़राज़ और जॉन एलिया की शाइरी से वे मुतास्सिर हैं। बीस बरस के इस होनहार शाइर के तेवर उनकी ग़ज़लों में साफ़ दिखते हैं।

(86)

अदम से आये हैं चौखट पे तेरी दीवाने
बला से अपनी अगर अब भी तू न पहचाने
जहाने नौ में दिलों को ज़बान मिलती है
अज़ल तलक थे दिल-ए-बेनवा के अफ़साने
मैं दश्त-ए-तर्क-ए-मरासिम से लाजवाब आया
अज़ब सवाल उठाये थे उसके गिरया ने
तुझे गुमाँ भी नहीं तेरी दिलबरी के लिए
पलट के आये हैं किन मंज़िलों से दीवाने
इसी का नाम अज़ीज़ों ने शहर रखा है
यहाँ बज़िद हैं खुद आवारगी के काशाने
सुलझ सकी न तेरी जुल्फ़-ए-बद-मिज़ाज अल्लाह!
उलझ के रह गये उश्शाक़-ए-शहर के शाने
मुहब्बतों में दिलों के इरादे क्या मालूम
हम अपना जानते हैं आपका खुदा जाने
ख़्याल-ए-यार की आमद का जश्न करना है
अयाग़-ए-चश्म में उलटा के लाओ मैख़ाने

(87)

खामे में मेरे गर्दिशए-हिज्रओ विसाल है
सो ये गज़ल भी खून-ए-तमन्ना से लाल है

कूचे में यार के है मेरी खाकए-बाद-बाज़
बादए-फ़ना तो जान की हसरत निहाल है

मरता हूँ ताबए गिरया-ए-खून आब-अशक से
सुनता हूँ अब भी आपको मेरा खयाल है

तौहीन-ए-औज-ए-यार अगर हो न तो कहुँ
क़ामत में ज़िक्रे-रोज़े-जज़ा भी कमाल है

जी से तुम्हारे खौफ़-ए-क़यामत भी उठ बने
तुमको मैं गर बताऊँ जो फ़ुरकत का हाल है

ग़ैर-अज़-रक़ीब कौन समझता है जी का हाल
वो दोस्त है उदू है जो भी है कमाल है

अब मैं हूँ और जुल्मत-ए-मरहूम-आरजू
अब तू है और मज़मा-ए-नूर-ओ जमाल है

(88)

मेरी ग़ज़लों का असर लेता गया
वो मेरा कस्ब-ए-हुनर लेता गया

आँख में आँसू न दिल में हसरतें
इश्क़ सब कुछ लूटकर लेता गया

बाद उसके हर तरफ जंगल सा है
वो गया तो सारा घर लेता गया

शब में तारीकी न दिन में रौशनी
वो मिरे शामओ सहर लेता गया

दे गया सौ कारवाँ उम्मीद के
पर मिरा अज़्म-ए-सफ़र लेता गया

हम न समझे ऐ दिल-ए-ज़ेर-ए-सितम
जान वो किस बात पर लेता गया

अब है यारा खुशिकियों से राबते
वो मिरा सैल-ए-नज़र लेता गया

(89)

अब जुनूँ बाँधे तो बाबए हुस्नए लैला बाँधिये
हर नज़र के साथ अब कोई तामाशा बाँधिये

अब तलब से टूटता है आपका नाजुक बदन
किसने बाँधा था कि आप अहद-ए-तमन्ना बाँधिये

वो सरापा नाज़ और यॉ एक दिल वा-ए-सित्तम
दिल में आता है कि दिल ही दिल सरापा बाँधिये

वाँ गुरूरो नाज़ओ ग़मज़ा-ओ-अदा-ओ-दिलबरी
यॉ फ़क़त इक रिश्तए अफ़कार क्या क्या बाँधिये

आपने बाँधी कमर मेरे मिटाने के लिये
मस्अला नाजुक है मेरी जान हल्का बाँधिये

बाँधने को यूँ तो जुल्फ़ें आपने बाँधी बहुत
अब ज़रा उठिये तराबिश हा-ए-दरिया बाँधिये

चारागर हैं आप तो कीजे, इलाज-ए-दर्द-ए-दिल
यूँ ना बे तरतीब ज़ख़्मों पर दिलासा बाँधिये

(90)

तिरी कुर्बतों के खयाल में तिरी फुरकतों के शुमार पर
मेरी जिन्दगी भी गुज़र गयी किसी अहद-ए-आमद-ए-यार पर

जो चमन में अबके खिला नहीं मेरी हसरतों का गुलाब था
मिरा फ़सल-ए-गुल से हिसाब है मेरा कर्ज़ है ये बहार पर

कभी आ के देख तो हमनशीं तिरा मुन्तज़िर हूँ मैं आज भी
है मिज़गां वफ़ा की खुली हुई मिरी ख्वाहिशों के मज़ार पर

मुझे रहबरों से गिला नहीं तिरी चाहतों में मिला यही
है मेरे सफ़र का सिला यही जो निशाँ है राहए गुज़ार पर

है कलम की धार पे दो हदफ़ या 'फराज़' है या कि 'फैज़' है
ये सुखनवरी है टिकी कहाँ रूख-ए-यार पर या कि दार पर

कभी आ के देख ज़मीन पर तेरे शहर-ए-रंजओ हिरास में
जो गुज़र रही है मिरे खुदा तिरे मुश्त-ए-खाक-ए-गुबार पर

वीनस केसरी

1985 की पैदाइश वाले वीनस केसरी ग़ज़ल से ज्यादा ग़ज़ल के अरूज़ से जुड़े हैं। पिछले चार बरस से ग़ज़ल के अरूज़ पर काम कर रहे हैं। यह काम जल्दी ही पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाला है। वीनस ऐसे परिवार से हैं जिसने इलाहाबाद में रहते हुए पुस्तक प्रकाशन का कार्य किया है। उनसे मिलिए तो आपको अहसास होगा कि कितनी कम उम्र में इस नौजवान ने स्वयं को हालात से लड़ते हुए मज़बूत बनाया है। किसी भी तंज़ की परवाह न करते हुए आगे बढ़ते रहना वीनस का शग़ल है। उनकी कोई कृति अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। ब्लॉग और सोशल मीडिया में उनकी उपस्थिति लगातार बनी रहती है। राहत इन्दौरी और जॉन एलिया को पसंद करने वाले वीनस यूँ तो कहानी, लघुकथा, दोहे, छन्द भी लिखते रहते हैं मगर उन्हें सुकून तो ग़ज़ल लिखने में ही मिलता है।

(91)

सिहर जाता हूँ, ऐसा बोलता है।
वो बस मीठा ही मीठा बोलता है।

समय के सुर में बोलेगा वो इक दिन,
अभी तो उसका लहजा बोलता है।

ये उसकी तिश्नगी है या तिजारत,
वो मुझ जैसे को दरिया बोलता है।

उसे खुद ही नहीं मालूम होता,
नशे में मुझसे क्या क्या बोलता है।

वो सब कुछ जानता है जान कर भी
अँधेरे को उजाला बोलता है।

पुरानी बात है, सब जानते हैं,
नया मुर्गा ज़ियादा बोलता है।

मेरी माँ आजकल खुश हैं इसी में,
अदब वालों में बेटा बोलता है।

(92)

अब हो रहे हैं देश में बदलाव व्यापक देखिये।
शीशे के घर में लग रहे लोहे के फाटक देखिये।

जो ढो चुके हैं इल्म की गठरी अदब की बोरियां।
वो आ रहे हैं मंच पर बन कर विदूषक देखिये।

जिसके सहारे जीत लीं हारी हुई सब बाज़ियां,
उस सत्य के बदले हुये प्रारूप भ्रामक देखिये।

जब आपने रोका नहीं खुद को पतन की राह पर,
तो इस गिरावट के नतीजे भी भयानक देखिये।

किसने कहा था क्या विमोचन के समय सब याद है,
पर खा रही हैं वह किताबें कब से दीमक देखिये।

इक उम्र जो गंदी सियासत से लड़ा, लड़ता रहा,
वह पा के गद्दी खुद बना है क्रूर शासक देखिये।

जनता के सेवक थे जो कल तक आज राजा हो गए,
अब उनकी ताक़त देखिये उनके समर्थक देखिये।

(93)

दिखा है झूठ में कुछ फ़ायदा तो।
मगर मैं खुद से ही टकरा गया तो।
मुझे सच से मुहब्बत है, ये सच है,
पर उनका झूठ भी अच्छा लगा तो।
शराफ़त का तकाज़ा तो यही है,
रहें चुप सुन लिया कुछ अनकहा तो।
करूँगा मना कैसे फिर उसे मैं,
दिया अपना जो उसने वास्ता तो।
रहीम इस बार तो 'कुट्टी' न होना,
अगर मैं राम से 'मिल्ली' हुआ तो।
हमें बस शाइरी का शौक है, पर,
यही इक शौक भारी पड़ गया तो।
वो मानेगा मेरी बातें, ये सच है,
करेगा दिल की ही ज़िद पर अड़ा तो।
खुले हो जिस तरह तुम उनसे 'वीनस',
अचानक तोड़ लें वह राबिता तो।

(94)

जाल सय्याद फिर से बिछाने लगे ।
क्या परिंदे यहाँ आने-जाने लगे ।

खेत के पार जब कारखाने लगे ।
गाँव के सारे बच्चे कमाने लगे ।

फिर से दहला गये शहर को चंद लोग,
हुक्मराँ फिर कबूतर उड़ाने लगे ।

वो जो इस पर अड़े थे कि सच ही कहो,
मैंने सच कह दिया तिलमिलाने लगे ।

वक्रत की पोटली से हैं लम्हात गुम,
होश अब तो हमारा ठिकाने लगे ।

चंद खुशियाँ जो मेहमाँ हुई मेरे घर,
रंजओ गुम कैसा तेवर दिखाने लगे ।

मेरे अश्रुआर में जाने क्या बात थी,
लोग तड़पे मगर मुस्कुराने लगे ।

(95)

दर्पण में कुछ खुद से बेहतर ढूँढ रहे हैं।
जाने खुद में किसका पैकर ढूँढ रहे हैं।

अम्बर पे घर की ख्वाहिश कर ली है सबने
अब मेलों में परियों के पर ढूँढ रहे हैं।

खूब ज़ियादा और ज़ियादा की चाहत में,
पाँव बढ़ा कर लंबी चादर ढूँढ रहे हैं।

प्यास बुझाने की खातिर भी सागर मंथन,
जाने क्या हम भीतर-बाहर ढूँढ रहे हैं।

गमलों में हम बरगद पीपल नीम लगा कर
अपने अंदर गाँव का मंज़र ढूँढ रहे हैं।

जब से लोगों ने मुझ पर हैं पत्थर फेंके,
वो पत्थर मुझमें इक अम्बर ढूँढ रहे हैं।

'वीनस' अपने शेरों में खुद को खोजे है,
आप गज़ल में बागी तेवर ढूँढ रहे हैं।

अंकित सफ़र

अंकित सफ़र भी नई नस्ल के शाइरों में एक महत्वपूर्ण नाम हैं। उनकी शाइरी में एक उत्साह देखने को मिलता है जो समाज में फैले हुए व्यभिचार को अपने तलख़ लहजे से मिटाने का ज़ुबान लेकर आगे बढ़ रहा है। पंतनगर विश्वविद्यालय से कृषि स्नातक तदोपरान्त एम.बी.ए. करने के बाद ग़ज़ल लेखन में मुसलसल मुब्तिला। घर-घराने में कई पीढ़ियों तक कोई ऐसा नहीं जिसे ग़ज़ल की समझ हो..... स्वप्रेरणा से ग़ज़ल लेखन की शुरूआत की बाद में पंकज सुवीर के सानिध्य में रहकर ग़ज़ल को सजाया-सँवारा। आज कल मुंबई में रहते हुए अपने व्यवसाय के साथ ग़ज़ल की आबरू बढ़ाने में प्रयासरत। 28 वर्षीय अंकित का मानना है कि फ़िलहाल जो दौर है उसमें शब्दों और शाइरों में एक अन्तर्संबंध हैं जिसके चलते शब्द-शाइरों को और शाइर शब्दों को ढूँढ़ रहे हैं।

(96)

हर इक साँचे में ढल जाये ज़रा ऐसे पिघल प्यारे।
तू अपनी सोच के पिंजरे से बाहर तो निकल प्यारे।

झुकाएगा नहीं अब पेड़ अपनी शाख पहले सा,
तिरी चाहत अगर ज़िद्दी है तो तू ही उछल प्यारे।

पस-ए-हालात में ख़ामोशियाँ भी चीख उट्टी हैं,
रगों में गर लहू बहता है तेरे तो उबल प्यारे।

जहाँ फ़रियाद गुम होने लगे आवाज़ में अपनी,
वहाँ पर टूटने ही चाहिए सारे महल प्यारे।

निवाला आज भी मुश्किल से मिलता है यहाँ लेकिन,
फले-फूले हैं हाथी, साइकिल, पंजा, कमल प्यारे।

सड़क पर हम भी उतरेंगे हमारी भी हैं कुछ मांगे,
नया फैशन है निकला देश में ये आजकल प्यारे।

है अहल-ए-शहर का लहजा न जाने तल्लू क्यूँ इतना,
सुनाना चाहता हूँ मैं यहाँ बस इक ग़ज़ल प्यारे

(97)

हमारे सब्र का वो खूबसूरत पल निकल आये
वो अपने दोस्तों के साथ गर पैदल निकल आये

जवाँ इस उम्र की ड्योढ़ी पे जब उसने कदम रक्खे,
बढ़ाने दोस्ती गालों पे कुछ पिम्पल निकल आये

जमी जब चौकड़ी यारों की सालों बाद तो फिर से,
खुले यादों के बक्से और गुजरे पल निकल आये

अंगीठी-कोयले में दोस्ती बढ़ने लगी जब कुछ
दिखाने रौब फिर संदूक से कम्बल निकल आये

ये नैनीताल है साहब, मकानों से यहाँ ज़्यादा
गली-कूचों में टपरी से कई होटल निकल आये

अभी तक तो उसे ही पूजते आये थे सब लेकिन,
उसी के क्रद बराबर अब कई पीपल निकल आये

पुकारें आस्माँ को दीं, झुलसती फ़स्ल ने जब तो,
बँधाने आस थोड़ी स्याह से बादल निकल आये

(98)

आकाश पे देखी गई धरती की तपन भी
बूँदों में था लिपटा हुआ बादल का बदन भी

ऐ काश कि पढ़ सकता तू बादल की शिकन भी
बूँदों में था लिपटा हुआ बारिश का बदन भी

उसने यूँ नज़र भर के है देखा मेरी जानिब
आँखों में चली आई है हाथों की छुअन भी

ऐ सोच मेरी सोच से आगे तू निकल जा
उन सा ही सँवर जाए ये अंदाज़-ए-कहन भी

बातों में कभी आई थी मेहमान के जैसे
अफ़सोस के घर कर गई दिल में ये ज़लन भी

आहिस्ता से पलकों ने मेरी जाने कहा क्या
अब नींद में ही टूटना चाहे है थकन भी

ढलती ही नहीं है ये मुई रात में जा कर
चुपचाप किसी शाम सी अटकी है घुटन भी

(99)

हैं कदम-कदम पे जो इम्तिहां मेरे हौसलों से वो दंग हों
चढ़े डोर जब ये उमीद की, मेरी कोशिशें भी पतंग हों

ये जो आड़ी-तिरछी लकीरें हैं मेरे हाथ में, तेरे हाथ में
किसी ख़्वाब की कई सूरतें, किसी ख़्वाब के कई रंग हों

कई मुश्किलों में भी ज़िन्दगी तेरे ज़िक्र से है महक रही,
तेरी चाहतों की ये खुशबुएँ मैं जहाँ रहूँ मेरे संग हों

कई हसरतों, कई ख़्वाहिशों की निबाह के लिए उम्र भर
इसी ज़िन्दगी से ही दोस्ती, इसी ज़िन्दगी से ही जंग हों

जो रिवाज और रवायतें यूँ रखे हुए हैं सँभाल के,
वो लिबास वक़्त की उम्र संग बदल कसें, कहीं तंग हों

ये किसी फ़कीर की है दुआ तुझे इस मक़ाम पे लाई जो,
तू जहाँ कहीं भी रहे 'सफ़र' तेरी हिम्मतें तेरे संग हों,

आदिल रज़ा मंसूरी

1978 में जन्में आदिल रजा मंसूरी से अगर गुफ्तगू करें तो आपको तुरन्त अहसास हो जाएगा कि जिस शख्स से आप मुखातिब हैं वो उम्र में तो कम है मगर इल्म के हिसाब से उसका क़द बहुत ज़्यादा है। कम उम्र में ही नामचीन लोगों से उनकी सोहबतों ने उन्हें इतना परिपक्व बना दिया है कि हैरत होती है। यूँ तो वाणिज्य बैकग्राउण्ड वाले आदिल कम्प्यूटर पर एकाउन्टिंग के साफ़्टवेयर में उलझे रहते हैं मगर उनका दिमाग़ ज़ाहिर-बज़ाहिर शायरी के महीन धागों में ही उलझा रहता है। वे 'इस्तिफ़िसार' नामक उर्दू मैगज़ीन के सम्पादक/प्रकाशक भी हैं और 'आबशार' नामक एक अरबी सोसायटी के सर्वेसर्वा भी। साहित्यिक गतिविधियों और सोसायटियों से उनका जुड़ाव मुसलसल बना रहता है। महत्वपूर्ण मैगज़ीनों में उनकी रचनाएं आये दिन शाए होती रहती हैं। गुलज़ार व शीन काफ़ निज़ाम जैसी हस्तियों से हौसला अफ़ज़ाई हुई तो शाइरी को अपना ठिकाना मान लिया। 'खिड़की में ख़्वाब' किताब के संपादक के रूप में नयी पहचान मिली।

(100)

ज़मीन किस के लिए आसमान किस का है
कभी खुला ही नहीं ये जहान किस का है।

ये कौन है जो मुझे पूछता है रह रह कर
मकीन तू है मगर ये मकान किस का है

हमारे बीच में फिर फ़ासिला है क्यूँ बाकी
यकीन दोनों को है तो गुमान किस का है

ज़मीं के माथे पे रौशन है मेरा सिजदा, पर
ये आस्माँ की जर्बी पर निशान किस का है

मेरे नसीब में ख़्वाब-ए-ख़ला बजा 'आदिल'
मगर बता तो सही ख़ाक दान किस का है

(101)

सफ़र के बाद भी मुझको सफ़र में रहना है
नज़र से गिरना भी गोया ख़बर में रहना है

अभी से ओस को किरनों से पी रहे हो तुम
तुम्हें तो ख़्वाब सा आँखों के घर में रहना है

हवा तो आप की किस्मत में होना लिखा था
मगर मैं आग हूँ, मुझको शजर में रहना है

निकल के खुद से खुद ही में डूब जाता है
मैं वो सफ़ीना हूँ जिसको भँवर में रहना है

तुम्हारे बाद कोई रास्ता नहीं मिलता
तो तय हुआ कि उदासी के घर में रहना है

जला के कौन चले अब उसे किसी की तरफ़
बुझे दिए को तो 'आदिल' खंडर में रहना है

(102)

शाम होते ही घर में दर आई
एक तन्हाई मुस्कुराती हुई

हर बदन रंग रूप खो बैठा
कैसी परछाई शहर से गुज़री

रास्ता याद घर का तुम रखना
मेरी आवारगी तो भटकेगी

दशत का दर खुला तो ये जाना
दस्तकों की ज़बान है अपनी

रात को ख़्वाब में हँसा इतना
सुबह दम आइने में बरकत थी

हम ने सहारा को घर किया तो सुना
इक नदी भी यहाँ से गुज़रेगी

(103)

अगर किसी प कभी मानी-ए-सफ़र खुलता
अबद के बाद की दुनिया का उस प डर खुलता

बचा हुआ हूँ उसी के तुफ़ैल में शायद
न डूब जाता अगर याद का भँवर खुलता

मैं उस की ज़ात से अपना सुराग़ ले आता
कभी जो पात से जड़ तक अगर शजर खुलता

वो कैसा आब है चारों ही सिम्त बहता है
मैं इक मुहाना हूँ बोलो किधर किधर खुलता

तुम्हारे होने की दुनिया को क्या ख़बर होती
अगर हमारा फ़साना ही मुख़्तसर खुलता

ये अपने आप में रहना तिरा बजा 'आदिल'
मगर कभी तो किसी पर तू आन भर खुलता

(104)

देख नक्शा नया आसमानों का है
ये करिश्मा हमारी उड़ानों का है

जिसने सूरज को अपना निवाला किया
मोजिज़ा ये भी हम जॉन्-फ़िशानों का है

कौन नापेगा अब राह की सख्तियाँ
सब पे तारी नशा अब थकानों का है

हम भी अगले क़दम पर बिछड़ जायेंगे
उस के आगे सफ़र दास्तानों का है

देखना हर घड़ी जंगलों की तरफ़
ये असर हम प गुज़रे ज़मानों का है

प्रखर मालवीय

महज़ बीस बरस के नवोदित शाइर प्रखर मालवीय 'कान्हा' को पढ़िये तो आपको दांतों तले उंगली दबाना ही होगा। यूं तो कान्हा के परिवार में दूर दूर तक इस विधा से कोई वास्ता नहीं है लेकिन वे जगजीत सिंह और गुलाम अली को सुनते सुनते कब ग़ज़ल को महबूब बना बैठे, यह उन्हें भी नहीं मालूम। पहले हिन्दी कविता लिखी फिर ग़ज़ल को अपना लिया। सी.ए. बैकग्राउण्ड वाले प्रखर को बशीर बद्र, गुलज़ार, जॉन एलिया, मुनव्वर राना और दुष्यन्त कुमार को पसन्द करने वाले स्वप्निल तिवारी से सलाह लेते रहते हैं। अब तक कई पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएं प्रकाशित हुई हैं लेकिन स्वतंत्र कृति आना शेष है।

(105)

सितम देखो कि जो खोटा नहीं है
चलन में बस वही सिक्का नहीं है

नमक ज़ख़्मों पे अब मलता नहीं है
ये लगता है वो अब मेरा नहीं है

यहाँ पर सिलसिला है आंसुओं का
दिया घर में मिरे बुझता नहीं है

यही रिश्ता हमें जोड़े हुए है
कि दोनों का कोई अपना नहीं है

नये दिन में नये किरदार में हूँ
मिरा अपना कोई चेहरा नहीं है

मिरी क्या आरजू है क्या बताऊँ?
मिरा दिल मुझपे भी खुलता नहीं है

कभी हाथी कभी घोड़ा बना में
खिलौने बिन मिरा बच्चा नहीं है

(106)

तीरगी से रौशनी का हो गया
मैं मुकम्मल शाइरी का हो गया

देर तक भटका मैं उसके शहर में
और फिर उसकी गली का हो गया

सो गया आँखों तले रख के उन्हें
और ख़त का रंग फ़ीका हो गया

एक बोसा ही दिया था रात ने
चाँद तू तो रात ही का हो गया?

रात भर लड़ता रहा लहरों के साथ
सुब्ह तक 'कान्हा' नदी का हो गया...!!!

(107)

वही गवाह जो सच्चे बयान वाला है
ज़बां पे उसकी भी ख़ामोशियों का ताला है

शरीफ़ शख़्स है, अहसान लादने के लिए
मुझे गिराया है खुद, खुद मुझे सम्हाला है

उबरते ही तिरे ख़ाबों से मैं ये देखूँगा
'अंधेरा है कि तेरे शहर में उजाला है'

अभी मैं ज़िंदा हूँ इस पर यक़ीन कर लो तुम
रवां है सांस मिरी इक यही हवाला है

निकल पड़ा हूँ मैं यादों की सर्द राहों पर
सियाह शब का मेरे जिस्म पर दुशाला है

नहीं मैं कहता ग़ज़ल कोई भी यूँ ही 'कान्हा'
हज़ार ज़ख़्म हैं जिनको कि मैंने पाला है

(108)

कहीं जीने से मैं डरने लगा तो ...?
अज़ल के वक़्त ही घबरा गया तो ?

ये दुनिया अशक से ग़म नापती है
अगर मैं ज़ब्त करके रह गया तो ...?

खुशी से नींद में ही चल बसूंगा
वो गर ख़्वाबों में ही मेरा हुआ तो....

ये ऊंची बिल्डिंगें हैं जिसके दम से
वो खुद फुटपाथ पर सोया मिला तो ...?

मैं बरसों से जो अब तक कह न पाया
लबों तक फिर वही आकर रूका तो...?

क़रीने से सजा कमरा है जिसका
वो खुद अंदर से गर बिखरा मिला तो..?

लकीरों से हैं मेरे हाथ ख़ाली
मगर फिर भी जो वो मुझको मिला तो..?

(109)

ख़ला को छू के आना चाहता हूँ
मैं खुद को आजमाना चाहता हूँ

मेरी ख़्वाहिश तुझे पाना नहीं है
ज़रा सा हक़ जताना चाहता हूँ

तुझे ये जान कर हैरत तो होगी
मैं अब भी मुस्कुराना चाहता हूँ

तेरे हंसने की इक आवाज़ सुन कर
तेरी महफ़िल में आना चाहता हूँ

मेरी ख़ामोशियों की बात सुन लो
ख़मोशी से बताना चाहता हूँ

बहुत तब्दीलियाँ करनी हैं खुद में
नया किरदार पाना चाहता हूँ

अमीर इमाम

पाँचवीं पीढ़ी के रूप में दरबारे-ए-गज़ल में हाज़िर अमीर इमाम को गज़ल कहने का हुनर विरसे में मिला। घर में नौहा, सलाम, मर्सिया कहने की परम्परा थी जो अमीर को गज़ल की ज़मीन पर खींच लाई। 1984 में जन्मे अमीर इमाम का झुकाव बचपन से ही शाइरी की सिम्त हो गया। ए.एम. यू. से सिविल इन्जीनियरिंग में डिप्लोमा करने के बाद जर्नलिज्म की तरफ़ रुझान हुआ कुछ दिन अंग्रेज़ी अख़बारों में काम किया। फिलहाल संभल (उ.प्र.) में रहकर अंग्रेज़ी से मास्टर्स डिग्री हासिल करने की जद्दोज़हद में लगे अमीर अपना कैरियर एजूकेशन लाइन में बनाना चाहते हैं। शाइरी में क्लासिकल पोइट्स के साथ मीर अनीस को अपना मोतबर शाइर मानने वाले अमीर का एक मज्मुआ 'नक्शे पा हवाओं के' (उर्दू) 2013 में ही शाय्या हुआ है।

(110)

ये कार-ए-ज़िन्दगी था तो करना पड़ा मुझे
खुद को समेटने में बिखरना पड़ा मुझे

फिर ख़्वाहिशों को कोई सराय न मिल सकी
इक और रात खुद में ठहरना पड़ा मुझे

महफूज़ ख़ामुशी की पनाहों में था मगर
गूँजी इक ऐसी चीख़ कि डरना पड़ा मुझे

इस बार राह-ए-इश्क़ कुछ इतनी तवील थी
उसके बदन से होके गुज़रना पड़ा मुझे

पूरी 'अमीर' इमाम की तस्वीर जब हुयी
उसमें लहू का रंग भी भरना पड़ा मुझे

(111)

यूँ मिरे होने को मुझ पर आशकार उसने किया
मुझमें पोशीदा किसी दरिया को पार उसने किया

पहले सहरा से मुझे लाया समन्दर की तरफ़
नाव पर कागज़ की फिर मुझको सवार उसने किया

मैं था इक आवाज़ मुझको खामुशी से तोड़कर
किरचियों को देर तक मेरी शुमार उसने किया

दिन चढ़ा तो धूप की मुझको सलीबें दे गया
रात आई तो मिरे बिस्तर को दार उसने किया

जिसको उसने रौशनी समझा था मेरी धूप थी
शाम होने का मिरी फिर इन्तज़ार उसने किया

देर तक बुनता रहा आखों के करघे पर मुझे
बुन गया जब मैं तो मुझको तार-तार उसने किया

(112)

वो मारेका कि आज भी सर हो नहीं सका
मैं थक के मुस्करा दिया जब रो नहीं सका

इस बार यह हुआ तेरी यादों की भीड़ में
हर गाम खुद को मिल गया मैं खो नहीं सका

जागा हूँ गहरी नींद से लेकिन अजीब बात
यह लग रहा है जैसे कि मैं सो नहीं सका

उग आयी घास इश्क़ के मलबे पे हर तरफ़
हम दोनों में से कोई उसे ढो नहीं सका

जादू नगर है कोई मेरा अन्दरूँ जहाँ
होता रहा है वो जो कभी हो नहीं सका

(113)

काँधों से ज़िन्दगी को उतरने नहीं दिया
उस मौत ने कभी मुझे मरने नहीं दिया

पूछा था आज मेरे तबस्सुम ने इक सवाल
कोई जबाब दीद-ए-तर ने नहीं दिया

तुझ तक मैं अपने आप से होकर गुज़र गया
रस्ता जो तेरी राह गुज़र ने नहीं दिया

कितना अजीब मेरा बिखरना है दोस्तों
मैंने कभी जो खुद को बिखरने नहीं दिया

है इम्तिहान कौन सा सहरा-ए-ज़िन्दगी
अब तक जो तेरे खाक बसर ने नहीं दिया

यारों 'अमीर' इमाम भी इक आफ़ताब था
पर उसको तीरगी ने उभरने नहीं दिया

(114)

अब इस जहान-ए-बरहना का इस्तेआरा हुआ
में ज़िन्दगी तिरा इक पैरहन उतारा हुआ

सियाह खून टपकता है लम्हे-लम्हे से
न जाने रात पे शब खूँ है किसने मारा हुआ

जकड़ के साँसों में तश्हीर हो रही है मिरी
में एक क़ैद सिपाही हूँ जंग हारा हुआ

फिर इसके बाद वो आँसू उतर गया दिल में
ज़रा सी देर को आँखों में इक शरारा हुआ

खुदा का शुक्र मिरी तश्नगी पलट आयी
चली गयी थी समन्दर का जब इशारा हुआ

‘अमीर’ इमाम मुबारक हो फतह-ए-इश्क़ तुम्हें
यह दर्द माल-ए-ग़नीमत है सब तुम्हारा हुआ

जतिन्दर 'परवाज़'

जतिन्दर 'परवाज़' की विलादत 25 फरवरी, 1975 को पठान कोट, पंजाब के एक गाँव में हुयी। ये हिन्दी उर्दू, अंग्रेज़ी, पंजाबी में मज़बूत पकड़ रखते हैं। पंजाब की नौजवान नस्ल में मशहूर और मकबूल शाइर की हैसियत से जाने जाते हैं। इनके ग़ज़लें हिन्दी उर्दू की मुख़्तलिफ़ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। आल इन्डिया मुशायरों और कवि सम्मेलनों में शिरकत तथा रेडियो और टी.वी. पर शाइरी के लाइव एवं रिकार्डिंग प्रोग्राम नशत होते रहते हैं। फ़िलवक़्त ये दिल्ली के एक अख़बार में उप संपादक के पद पर कार्यरत हैं तथा हिन्दी, उर्दू, पंजाबी में अनुवाद और कम्प्यूटर कम्पोज़िंग का काम भी करते रहते हैं :-

(115)

गुमसुम तनहा बैठा होगा
सिगरेट के कश भरता होगा

उसने खिड़की खोली होगी
और गली में देखा होगा

जोर से मेरा दिल धड़का है
उसने मुझको सोचा होगा

सच बतलाना कैसा है वो
तुम ने उसको देखा होगा

मैं तो हँसना भूल गया हूँ
वो भी शायद रोता होगा

ठंडी रात में आग जलाकर
मेरा रस्ता तकता होगा

अपने घर की छत पर बैठा
शायद तारे गिनता होगा

(116)

ज़रा सी देर में दिलकश नज़ारा डूब जाएगा
ये सूरज देखना सारे का सारा डूब जाएगा

न जाने फिर भी क्यों साहिल पे तेरा नाम लिखते हैं
हमें मालूम है इक दिन किनारा डूब जायेगा

सफ़ीना हो के हो पत्थर हैं हम अंजाम से वाकिफ़
तुम्हारा तैर जायेगा हमारा डूब जायेगा

समन्दर के सफ़र में किस्मतें पहलू बदलती हैं
अगर तिनके का होगा तो सहारा डूब जायेगा

मिसालें दे रहे थे लोग जिसकी कल तलक हमको
किसे मालूम था वो भी सितारा डूब जायेगा

(117)

सहमा सहमा हर इक चेहरा मंज़र मंज़र खून में तर
शहर से जंगल ही अच्छा है चल चिड़िया तू अपने घर

तुम तो ख़त में लिख देती हो घर में जी घबराता है
तुम क्या जानो क्या होता है हाल हमारा सरहद पर

बे मौसम ही छा जाते है बादल तेरी यादों के
बे मौसम ही हो जाती है बारिश दिल की धरती पर

आ भी जा अब जाने वाले कुछ इनको भी चैन पड़े
कब से तेरा रस्ता देखें छत आँगन दीवार-ओ-दर

जिसकी बातें अम्मा अब्बू अक्सर करते रहते हैं
सरहद पार न जाने कैसा वो होगा पुरखों का घर

(118)

बारिशों में नहाना भूल गये
तुम भी क्या वो ज़माना भूल गये

कम्प्यूटर किताबें याद रहीं
तितलियों का ठिकाना भूल गये

फल तो आते नहीं थे पेड़ों पर
अब तो पंछी भी आना भूल गये

यूँ उसे याद करके रोते हैं
जैसे कोई ख़जाना भूल गये

मैं तो बचपन से ही हूँ संजीदा
तुम भी अब मुस्कराना भूल गये

(119)

क्यों खड़ी हमने की हैं दीवारें
दूर जब कर रही हैं दीवारें

जैसे कोई सवाल करता है
इस तरह देखती हैं दीवारें

अब मुलाकात भी नहीं मुमकिन
दरमियां आ गयी हैं दीवारें

इक झरोका भी इनमें रख लेना
रौशनी रोकती हैं दीवारें

बारिशों ने गिरा दिया छप्पर
सिर्फ अब रह गयी हैं दीवारें

लग के दीवार-ओ-दर से रोता हूँ
और मुझे देखती हैं दीवारें

कितना दुश्वार है सफ़र 'परवाज़'
हर क़दम पर उठी हैं दीवारें

पवन कुमार

आप सभी पाठकों का दिली शुक्रिया। अब आखिर में मैं अपनी पाँच गज़लें आपको परोसता हूँ, आपके हवाले करता हूँ स्वाद कैसा होगा, नहीं जानता...मगर फिर भी...।

(120)

उसी पर मुनहसिर है फ़ैसला तो
मगर समझे वो पहले मुद्दआ तो

है मंज़िल की तलब में काफ़िला तो
मगर दामन न छोड़े रास्ता तो

तअक्कुब में हूँ मैं उसके मुसलसल
वो सीधा जानिब-ए-मकतल गया तो

यक्रीनन हिचकियाँ हमको भी आतीं
हमारी याद में वो जागता तो

कहाँ तक ज़िद पे तुम क़ायम रहोगे
दिया उसने जो अपना वास्ता तो

दिखाकर पीठ दुश्मन बच गया फिर
कसक ये है पलट कर देखता तो

मैं पिघली शक्ल में था बेनुमू सा
मुझे सांचे में कोई ढालता तो

है जिसका साथ मंज़िल की ज़मानत
वो रस्ते में ही कह दे अलविदा तो

(121)

आपकी इस सल्लनत में कुछ गुज़र मेरा भी है
है फ़लक भर आपका हक़ आँख भर मेरा भी है

सोचता हूँ जितना डरता था मैं पापा से कभी,
क्या मिरी औलाद को उतना ही डर मेरा भी है

ख़म रखूँ कब तक मैं गर्दन अपने सीने की तरफ
आस्माँ इक चाहिए मुझको कि सर मेरा भी है

बस यही इक रब्त है अब तो हमारे दरमियाँ
हमसफ़र तेरा रफ़ीक-ए-मोतबर मेरा भी है

बाद मुद्दत के अचानक वो मिला तो यूँ लगा
उसके ज़ेहन-ओ-दिल पे अब तक कुछ असर मेरा भी है

वो फ़साना जिसमें तेरी फ़ह का था तज़िकरा
उस फ़साने में हवाला मुख़्तसर मेरा भी है

सोचकर बरसें हमारे शहर पर अब्र-ए-करम
सर छुपाने को यहाँ कच्चा सा घर मेरा भी है!

(122)

हैरत है जिन्हें मेरी तरक्की पे जलन भी
हैं उनमें नए दोस्त भी यारान-ए-कुहन भी
होती थी कभी महफ़िल-ए-अहबाब में रौनक
तारी है वहाँ अब तो उदासी भी घुटन भी
साथ उसका निभाता हूँ तो ये मेरा हुनर है
जो शख़्त ब यक वक्त है पानी भी अगन भी
हँसते हुए चेहरे पे भी आती है उदासी
है चाँद की तक्रदीर में थोड़ा सा गहन भी
इस राह-ए-मुहब्बत की है इतनी सी कहानी
इस राह में आये हैं बयाबाँ भी चमन भी
मंज़िल के लिए मुझको मिले हैं जो शरारे
शामिल है उन्हीं में मिरे पैरों की थकन भी
बेनाम से कुछ दर्द यहाँ ठहरे हुए हैं
है एक सराय की तरह अपना बदन भी
अब तर्क-ए-तअल्लुक का असर दोनों तरफ है
शर्मिदा जो तू है तो पशेमाँ है 'पवन' भी

(123)

अफ़सुर्दगी कभी तो कभी गुदगुदी सही,
है ज़िन्दगी यही तो यही ज़िन्दगी सही
झुंझला के मुझसे हज़रत-ए-नासेह कह गए
अच्छा ये आप समझे हैं अच्छा यही सही
है वापसी का जिक्र अबस अपने सामने
चलना हमारा काम है मंज़िल कड़ी सही
फ़ेहरिस्त-ए-रहनवान-ए-सुखन में तो मैं भी हूँ
पहला नहीं तो नाम मिरा आख़िरी सही
वैसे तो हर जनम है हमारा तुम्हारे नाम,
फ़िलहाल इक जनम है सो ये पेशगी सही
इक ज़िन्दगी फ़ना हुई तुमसे बिछड़ते वक़्त
बाद उसके उम्र कट गयी यूँ ही रही सही
कुछ हो कि जिसने कर दिया इल्ज़ाम से बरी,
किस्मत मिरा नहीं तो तेरी पैरवी सही
हर झूठ को है सच में बदलना उसी का काम
हुस्न-ए-बयाँ नहीं है तो जादूगरी सही।

(124)

जो मीर कारवाँ बस दो क़दम चल कर ही थक जाये
तो बेहतर है मुसाफ़िर रास्ते से खुद भटक जाये
वही अब सो रहा है चैन से कहता था जो कल तक
क़सम उसको लगे जिसकी पलक इक पल झपक जाये
हक़ीक़त तुझको दुनिया की नज़र आ जायेगी लेकिन
तिरी आँखों पे जो परदा है वो पहले सरक जाये
ये मौसम सर्दियों का है संभल कर आईना देखो,
कहीं ऐसा न हो कुहरा तुम्हारा अक्स ढक जाये
बुलन्दी ठीक है लेकिन बस इक लम्बिश पे जाने कब
खिसक जाये ज़मीं पैरों से हाथों से फ़लक जाये
उसे क्या ग़म उसे तो क़हक़हों में लुत्फ़ आता है
किसी की आँख भीगे या किसी की साँस अटक जाये
उसे झूठी तसल्ली दी है इस उम्मीद पर मैंने
बुझी आँखों में उसकी इक किरन शायद चमक जाये

जिनका शुक्रगुज़ार हूँ मैं...

जनाब शीन क्राफ़ निज़ाम
जनाब मंसूर उस्मानी
जनाब अक़ील नोमानी
जनाब तुफ़ैल चतुर्वेदी
जनाब मयंक अवस्थी
जनाब आदिल रज़ा मंसूरी
जनाब उमापति जी
जनाब डॉ. लाल रत्नाकर
जनाब मनीष शुक्ल
जनाब वीनस केसरी
जनाब अमीर इमाम
जनाब हरीश चन्द्र शर्मा
जनाब अतुल माहेश्वरी
जनाब हृदेश कुमार
जनाब पंकज सिंह

और

मोहतरमा अंजू सिंह ।

□ □ □

तब्दीली कुदरत का कानून है लेकिन यह भी हकीकत है कि चीजें अपने तब्दील न होने के दरम्यान तब्दील होती हैं। वक़्त की तरह...जो बराबर बदलता रहता है लेकिन यह तब्दीली रोज़ सूरज के उगने और ढलने के दरम्यान होती है, और सूरज हमेशा रोज़ सुबह को उगता है और शाम को ढल जाता है...

यही मामला शायरी की भी है। यह भी अपने तब्दील न होने के दरम्यान तब्दील होती रहती है। दौर बदलता है, रुझान बदलते हैं लेकिन शायरी नहीं बदलती, कुदरत की तरह। वह अपने तमाम हुस्न के साथ सिर्फ़ शायरी रहती है। आप इस इत्तेखाब में शामिल शोअ'रा का कलाम पढ़िये।

वे तमाम तब्दीलियां जो पिछले करीब बीस से पच्चीस बरसों में रुनुमा हुई हैं उनकी तस्वीरें इस कलाम में मौजूद हैं। इस दौर के सभी तक़ाज़े इस शायरी में साँस ले रहे हैं और यह शायरी अदब की रिवायतों से भी अपना रिश्ता बराबर बरकरार रखती है। यह दस्तक सिर्फ़ अदब के दरवाज़े पर नहीं है बल्कि आपके ज़हन पर भी है। दरवाज़ा खोलिये और इसका खैर मक़दम कीजिए...